विवेक-ज्योति

वर्ष ४०, अंक ६ जून २००२ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छत्तीसगढ़)

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जून २००२

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४०
अंक ६

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,०००/-

विदेशों में -- वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२५२६९, ६३६९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण शरणम्

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

सादर सनम्र निवेदन

आत्मीय बन्धु/भगिनी,

स्वामी विवेकानन्द, अपनी जन्मभूमि कलकत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पृथिवी में सबसे अधिक समय तक लगातार रहे हों, ऐसा स्थान है, तो वह है 'रायपुर नगर'। रायपुर में सन् १८७७ से १८७९ में अपनी किशोर अवस्था में स्वामीजी दो वर्ष रहे थे। उन्हीं की पुण्यस्मृति में रायपुर आश्रम का नामकरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम किया गया है।

यह आश्रम गत लगभग ४० वर्षों से नर-नारायण की सेवा में समर्पित है। आश्रम में निम्नलिखित सेवा विभाग हैं –

(१) धर्मार्थ औषधालय – नेत्ररोग विभाग, स्त्रीरोग विभाग, दन्तरोग विभाग, शिशुरोग विभाग, एक्स-रे विभाग, मनोरोग विभाग, हृदयरोग विभाग, पैथोलॉजी विभाग, नाक-कान-गला विभाग। (२) फिजियोथेरेपी (३) होमियोपैथी (४) ग्रन्थालय – (अ) विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक विभाग (ब) सामान्य ग्रन्थ विभाग (स) पत्र-पत्रिकाओं सहित निःशुल्क वाचनालय (५) विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क छात्रावास (६) श्रीरामकृष्ण मन्दिर (७) साधु-सेवा (८) गोशाला (९) स्कूल के गरीब छात्रों हेतु निःशुल्क कोचिंग क्लास।

इन वर्षों में आश्रम की सेवा गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई, परन्तु उसकी तुलना में आर्थिक अभाव के कारण आश्रम के भवनों आदि का विस्तार नहीं किया जा सका है। इसलिये अब आश्रम के कुछ विभागों में स्थान-विस्तार की नितान्त आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रम के पुराने भवनों की मरम्मत, रंग-रोगन आदि भी कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आश्रम में दो प्रकार के सेवक हैं – (१) साधु-ब्रह्मचारी (२) वेतन-भोगी

साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण तथा वेतनभोगी सेवकों के वेतनादि के लिये भी आश्रम को स्थायी कोष की आवश्यकता है। आश्रम के सेवा-कार्यों तथा सेवकों, साधु-ब्रह्मचारियों आदि का भरण-पोषण आप जैसे उदार बन्धु-भगिनियों के दान से ही चलता है।

अतः आपसे सादर अनुरोध है कि निम्नलिखित मदों में उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

बूँद बूँद से ही घड़ा भरता है। आपके द्वारा दिया गया सभी दान हमारे लिये महान है तथा हमारी योजनाओं में परम सहायक होगा।

(१) सत्-साहित्य प्रदर्शन तथा विक्रय विभाग भवन तथा उपकरण (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(२) सेवक निवास भवन तथा उपकरण (सात लाख) ७,००,०००/- रु.

(३) गोशाला निर्माण तथा गोबर गैस संयंत्र आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(४) मन्दिर के सामने मुख्य द्वार का निर्माण तथा द्वार से मन्दिर तक पथ निर्माण (तीन लाख) ३,००,०००/- रु.

(५) पुराने भवनों की मरम्मत तथा रंग-रोगन आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(६) मन्दिर का फूल-उद्यान, जल संसाधन व्यवस्था तथा इनका रख-रखाव एवं विद्युत खर्च (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(७) औषधालय में औषधि आदि का व्यय तथा फिजियोथेरेपि यंत्रों का रख-रखाव, विद्युत व्यय, कर्मचारियों का मानदेय आदि (पच्चीस लाख) २५,००,०००/- रु.

स्थायी कोष के लिये अपेक्षित कुल राशि (रू. एक करोड़ मात्र) १,००,००,०००/- रु.

नर-नारायण की सेवा में आपका सहयोगी,

(स्वामी सत्यरूपानन्द)
सचिव

चेक/ड्राफ्ट कृपया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नाम पर लिखें।

रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान में ८०जी आयकर अधिनियम के अन्तर्गत छूट मिलती है।

नीति-शतकम्

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनाम् ।
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति ॥६१॥

अन्वयः – जगति लुब्धक-धीवर-पिशुनाः तृण-जल-सन्तोष-विहित-वृत्तीनां मृग-मीन-सज्जनानां निष्कारण-वैरिणः ।

भावार्थ – इस संसार में घास, जल तथा सन्तोष से अपना जीवन चलानेवाले हिरण, मछली तथा सज्जन लोगों के प्रति भी शिकारी, मछुवारे और दुर्जन बिना किसी कारण ही वैर किया करते हैं।

वाञ्छा सज्जनसङ्गमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद्भयम् ।
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले
येष्वेते निवसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः ॥६२॥

अन्वयः – सज्जनसङ्गमे वाञ्छा, परगुणे प्रीतिः, गुरौ नम्रता, विद्यायां व्यसनम्, स्वयोषिति रतिः, लोकापवादात् भयम्, शूलिनि भक्तिः, आत्मदमने शक्तिः, खले संसर्गमुक्तिः, एते निर्मल-गुणाः येषु निवसन्ति तेभ्यः नरेभ्यः नमः ।

भावार्थ – जो लोग सत्पुरुषों का संग करने की इच्छा करते हैं, दूसरों के गुणों में आनन्द प्रकट करते हैं, गुरुजन के प्रति नम्रता का भाव रखते हैं, विद्या के व्यसन में डूबे रहते हैं, अपनी पत्नी के प्रति अनुराग रखते हैं, लोकनिन्दा से डरते हैं, शूलपाणि शिव की भक्ति करते हैं, स्वयं को वशीभूत रखने में ही शक्ति का उपयोग करते हैं, दुष्टों के संग से दूर रहते हैं – ऐसे निर्मल गुणों से युक्त जो लोग हैं, उन्हें हमारा प्रणाम है।

– भर्तृहरि

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(छायानट-कहरवा)

सच्चित् स्वरूप आनन्दधाम, हे रामकृष्ण मंगलनिधान;
कलियुग के तुम नवादर्श, सन्ताग्रगण्य ऋषिमुनि-प्रधान ।।

तुम ब्रह्म-शक्ति चैतन्यरूप, इस बार लिया काया अनूप,
आशा लेकर आया हूँ मैं, दीजै चरणों का सन्निधान ।।

हे तीर्थकर्म हे शास्त्रमर्म, हे मूर्तिमन्त वैराग्य-धर्म,
बाहर से साजे भक्ति वर्म, अन्तर में है अद्वैत-ज्ञान ।।

– २ –

(यमन-त्रिताल)

हृदि मन्दिर के खोलो द्वार ।
रामकृष्ण बैठे शतदल पर,
शोक-मोह-भय-ताप निवार ।।

निर्विकार चिर नित्य निरंजन,
भक्त जनों के हैं चितरंजन,
कृपादृष्टि से भवभयभंजन,
उनकी महिमा अपरम्पार ।।

भाव-भक्ति के धूप जलाओ,
प्रेम-प्रीति के पुष्प चढ़ाओ,
इतने से ही हर्षित होकर,
भव-संसृति से देंगे तार ।।

आओ उनका ध्यान लगायें,
उनकी महिमा वन्दन गायें,
सकल कामना पूर्ण करेंगे,
वैतरणी के खेवनहार ।।

– *विदेह*

सुख नहीं है जीवन का लक्ष्य

स्वामी विवेकानन्द

मनुष्य मूर्खतावश सोचता है कि वह अपने को सुखी बना सकता है, परन्तु वर्षों के घोर संघर्ष के बाद उसकी आँखें खुलती हैं और वह यह अनुभव करता है कि वास्तविक सुख तो स्वार्थपरता को नष्ट कर देने में है और स्वयं के अतिरिक्त उसे दूसरा कोई सुखी नहीं बना सकता।

इस जगत् में किसी को भी सच्चा सुख प्राप्त नहीं है। यदि कोई व्यक्ति धनी है और उसे खाने-पीने को खूब है, तो उसकी पाचन-शक्ति खराब है और वह कुछ खा-पी नहीं सकता। और यदि किसी की पाचन-शक्ति अच्छी है, भेड़िये जैसी भूख लगती है, तो उसे खाने को ही नहीं जुटता। फिर, यदि कोई धनी है, तो उसे बाल-बच्चे ही नहीं होते और यदि कोई भूखों मर रहा है, तो उसके बाल-बच्चों की एक फौज-सी है और उसे यह भी नहीं सूझता कि वह उनका क्या करे। ऐसा क्यों है? बस, इसीलिए कि सुख और दुःख एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जो सुख चाहता है उसे दुःख भी लेना होगा। हम लोग मूर्खतावश सोचते हैं कि बिना कोई दुःख के, हमें केवल सुख-ही-सुख मिल जायेगा और यह बात हममें ऐसी भिद गयी है कि इन्द्रियों पर हम अधिकार ही नहीं कर पाते।

बैल को कोल्हू में जोता जाता है और तेल निकालने के लिये उसे गोल गोल घुमाया जाता है। बैल के कन्धे पर जुआ होता है। जुए का एक सिरा आगे बढ़ा होता है, जिसके एक छोर पर थोड़ी-सी घास बाँध दी जाती है। फिर बैल की आँख को इस तरह बाँध देते हैं कि वह केवल सामने ही देख सके। बैल अपनी गर्दन बढ़ाता है और घास खाने की कोशिश करता है। ऐसा करने से लकड़ी आगे धक्का खाती है। बैल दूसरी बार, तीसरी बार फिर चेष्टा करता है और इसी तरह बारम्बार चेष्टा करता जाता है। वह घास उसके मुँह में कभी नहीं आती, पर उसे पाने की आशा में वह घूम-घूमकर चक्कर लगाता ही जाता है। और इस प्रकार वह तेल पेरता रहता है। वैसे ही हम भी प्रकृति, रुपये-पैसे, स्त्री-बच्चों के जन्मजात दास हैं। और इसी तरह के काल्पनिक घास के गुच्छे को पाने के लिये हम हजारों जन्म तक चक्कर लगाते रहते हैं, पर जो पाना चाहते हैं, वह हमें नहीं मिलता। प्रेम एक ऐसा ही बड़ा सपना है। हम लोगों को प्यार करते हैं ओर चाहते हैं कि लोग हमें प्यार करें। हम समझते हैं कि हम सुखी होनेवाले हैं और हम पर दुःख कभी न आयेगा, पर हम जितना ही सुख की ओर जाते हैं, वह हमसे उतना ही अधिक दूर भागता जाता है।

हमने देखा है कि कैसे सुख या तो शरीर में स्थित है या मन में या आत्मा में। पशुओं तथा पशुप्राय निम्नतम मनुष्यों का सारा सुख देह में है। भूख से आर्त एक कुत्ता या भेड़िया जिस प्रकार सुखपूर्वक आहार करता है, कोई मनुष्य उस प्रकार नहीं कर सकता। अत: कुत्ते या भेड़िये के सुख का आदर्श पूर्णत: देहगत है। मनुष्य में हम एक उच्चतर – विचार के स्तर का सुख देखते हैं। सर्वोच्च स्तर का सुख ज्ञानी का है – वे आत्मा के आनन्द में विभोर रहते हैं। अत: ज्ञानी की दृष्टि में यह आत्मज्ञान ही परम उपयोगिता है; क्योंकि यही उन्हें सर्वोच्च सुख प्रदान करता है। इन्द्रियों की तृप्ति या भौतिक वस्तुएँ उसके लिये सर्वोच्च उपयोगिता का विषय नहीं हो सकतीं, क्योंकि ज्ञान में उन्हें जैसा सुख मिलता है, वैसा इन विषयों में नही मिलता। वस्तुत: ज्ञान ही सबका एकमात्र लक्ष्य है और जितने तरह के सुखों से हम परिचित हैं, उनमें ज्ञान ही सर्वोच्च है।

'पराधीनता ही दुःख और स्वाधीनता ही सुख है।' अद्वैत ही एक ऐसा दर्शन है, जो व्यक्ति को उसको पूर्ण उपलब्धि कराता है, अपना स्वामी बनाता है; समस्त पराधीनता व उससे जुड़े अन्धविश्वासों को उखाड़ फेंकता है और इस प्रकार हमें कष्ट झेलने में धीर, कर्म करने में वीर बनाता है तथा अन्तत: परम मुक्ति की प्राप्ति कराता है।

क्या संसार को हम कोई चिरन्तन सुख दे सकते हैं? समुद्र के जल में किसी जगह गर्त पैदा किये बिना हम अन्यत्र कोई लहर नहीं उठा सकते। इस संसार में मनुष्य की आवश्यकता और उसके लोभ से जुड़ी उपयोगी वस्तुओं की समष्टि सदैव समान रहती है। वह न घटायी और न बढ़ायी ही जा सकती है। हम मानव-जाति के ज्ञात इतिहास को ही देखें। क्या हमें सदैव वही सुख-दुःख, वही हर्ष-विषाद तथा अधिकार का वही तारतम्य नहीं दिखायी देता? क्या कुछ लोग अमीर, कुछ गरीब, कुछ बड़े, कुछ छोटे, कुछ स्वस्थ और कुछ लोग रोगी नहीं होते? यह सब जैसे प्राचीन काल में मिस्री, यूनानी और रोमनों के साथ सत्य था, वैसा ही आज अमेरिकावासियों के लिए भी है और यही दशा सदैव रही है।

हम इस जगत् में सुख को बढ़ा नहीं सकते और न दुःख को ही। इस संसार में भली तथा बुरी शक्तियों की समष्टि सदैव समान रहेगी। हम सिर्फ उसे यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ ढकेलते रहते हैं; परन्तु यह निश्चित है कि वह सदैव समान रहेगी, क्योंकि वैसा रहना ही उसका स्वभाव है। ज्वार-भाटा

– यह उतार-चढ़ाव तो संसार की प्रकृति ही है। इसके विपरीत सोचना तो वैसा ही युक्तिसंगत होगा, जैसा कि यह कहना कि मृत्यु के बिना जीवन सम्भव है।

दर्शन-शास्त्र के मतानुसार एक ऐसा आनन्द भी है, जो जगत् से निरपेक्ष तथा अपरिवर्तनीय है। वह आनन्द हमारे ऐहिक सुख के समान नहीं है। तथापि वेदान्त प्रमाणित करता है कि इस जगत् में जो कुछ आनन्ददायी है, वह उस सच्चे आनन्द का अंश मात्र है, क्योंकि एकमात्र उस आनन्द का ही वास्तविक अस्तित्व है। हम प्रति क्षण उसी ब्रह्मानन्द का उपभोग कर रहे हैं, पर यह उसका आच्छन्न, भ्रान्त तथा उपहासास्पद रूप ही होता है। जहाँ कहीं किसी तरह का आनन्द, हर्ष, आशीष देखो, यहाँ तक कि चोरों को चोरी में जो आनन्द मिलता है, वह भी वस्तुत: वही पूर्णानन्द है; केवल वह सभी प्रकार की बाह्य वस्तुओं के सम्पर्क से मलिन, धुँधला और भ्रान्त हो गया है।

प्रत्येक सुखोपभोग के बाद दु:ख आता है – यह दु:ख तत्काल आ सकता है या सम्भव है कुछ काल बाद आये। जो आत्मा जितनी उन्नत है, उसे सुख के बाद दु:ख भी उतना ही शीघ्र प्राप्त होता है। हमें सुख-दु:ख दोनों ही नहीं चाहिए। ये दोनों ही हमारे प्रकृत स्वरूप को भुला देते हैं। दोनों ही जंजीर है – एक लोहे की, दूसरी सोने की। इन दोनो के पीछे ही आत्मा है – उसमें न तो सुख है और न दु:ख।

दु:ख का मुकुट पहने ही सुख हमारे समक्ष आता है; सुख का स्वागत करनेवाले को दु:ख का भी स्वागत करना होगा।

जब मैं जीवन से एकाकार हो जाऊँगा, तभी मुझे मृत्यु के हाथ से छुटकारा प्राप्त हो सकता है; जब मैं आनन्दस्वरूप हो जाऊँगा, तभी दु:ख का अन्त हो सकता है; जब मैं ज्ञानस्वरूप हो जाऊँगा, तभी अज्ञान का अन्त हो सकता है।

केवल भौतिक सहायता के द्वारा ही संसार के दु:खों को दूर नहीं किया जा सकता। जब तक मनुष्य का स्वभाव परिवर्तित नही हो जाता, तब तक ये भौतिक अभाव सदा बने ही रहेंगे और इसके फलस्वरूप क्लेशों का अनुभव भी होता रहेगा। कितनी भी भौतिक सहायता उन्हें पूर्ण रूप से स्वस्थ नहीं कर सकती। इस समस्या का केवल एक ही समाधान है और वह है – मानव जाति को पवित्र कर देना। अपने चारों ओर हम जो बुराई तथा क्लेश देखते हैं, उन सबका केवल एक ही मूल कारण है – अज्ञान। मनुष्य को ज्ञानालोक दो, उसे पवित्र तथा आध्यात्मिक बल से सम्पन्न करो और शिक्षित बनाओ, तभी संसार से दु:ख का अन्त हो सकेगा, अन्यथा नहीं।

जब तक कामना-वासना रहती है, तब तक यथार्थ सुख नहीं मिल सकता। किसी व्यक्ति को केवल तभी सच्चा सुख तथा आनन्द प्राप्त होता है, जब वह ध्यानावस्था – साक्षिभाव से सारी वस्तुओं का परिशीलन कर सकता है।

पशु इन्द्रियों मे सुख पाते हैं, मनुष्य बुद्धि में और देवमानव आध्यात्मिक ध्यान में। जो ऐसी ध्यानावस्था को प्राप्त हो चुके है, उनके लिए यह जगत् सचमुच ही अत्यन्त सुन्दर प्रतिभात होता है। जिनमे कामना नही है, जो सभी विषयों मे निर्लिप्त हैं, उनके पास प्रकृति के ये विभिन्न परिवर्तन एक महा सौन्दर्य और उदात्त भाव की क्रीड़ा मात्र है।

❖ (क्रमश:) ❖

पुरखों की थाती (७)

आलस्यो हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः ।
नास्ति उद्यमसमो बन्धुः कृत्वाऽयं नावसीदति ।।

– आलस्य ही मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है, जो उसके शरीर में ही निवास करता है। उद्यम या कर्मठता से बढ़कर उसका अन्य कोई मित्र नहीं है, इस (उद्यम) का आश्रय लेने से किसी को शोक नहीं करना पड़ता।

आत्मार्थं जीवलोकेऽस्मिन् को न जीवति मानवः।
परं परोपकारार्थं यो जीवति स जीवति ।।

– इस संसार में ऐसा कौन व्यक्ति है, जो अपने लिए ही नहीं जीता अर्थात् सभी लोग अपने अपने स्वार्थ के निमित्त ही जीते हैं, परन्तु जो व्यक्ति दूसरों के हितार्थ जीवित रहता है, उसी का जीना सार्थक है।

आत्मवत् सर्वभूतेषु यश्चरेत् नियतं शुचिः ।
अमानी निरभिमानः सर्वतो मुक्त एव सः ।।

– जो व्यक्ति संयम बरतता है, पवित्र रहता है, जिसमें अभिमान नहीं है और जो सभी प्राणियों के प्रति निज के समान आचरण करता है, वह हर प्रकार से मुक्त ही है।

अहमेको न मे कश्चित् नाहमन्यस्य कस्यचित् ।
न तं पश्यामि यस्याहं तन्न पश्यामि यो मम ।।

– इस संसार में मैं एक हूँ, मेरा कोई नहीं है, मैं किसी अन्य का नहीं हूँ; मैं जिसका होऊँ ऐसा कोई नहीं दिखता और जो मेरा हो ऐसा भी कोई नहीं दिखता।

अंगद-चरित (२/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'अंगद-चरित' पर कुल १० प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके द्वितीय प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक हैं। – सं.)

इस सेतुबन्ध के माध्यम से साधना के इन विविध पक्षों को प्रगट किया गया है। अधिकांश बन्दर तो पत्थरों के सेतु के द्वारा और जलचरों के पुल से समुद्र को पार करके अपने जीवन के चरम लक्ष्य को पाने में समर्थ हो जाते हैं। पर ऐसा नहीं कि छलाँग लगानेवाले पात्र न हों। गोस्वामीजी कहते हैं – कुछ बन्दर आकाश से भी छलाँग लगाकर जाने लगे –

सेतुबंध भइ भीर अति
कपि नभ पंथ उड़ाहिं ।। ६/४

इसका सीधा तात्पर्य यह है कि साधना का क्रमिक विकास ही वह सेतु है और सीधा छलाँग लगाकर जाना क्रम-विकास न होकर, ईश्वर की कृपा द्वारा ही सम्पन्न होता है। भगवान ने बन्दरों से पूछा – पिछली बार तो केवल हनुमान ही छलाँग लगाकर पार गये थे, पर इस बार तो छलाँग लगानेवाले बन्दरों की संख्या काफी अधिक दिखाई दे रही है। यह अन्तर क्यों पड़ा? बन्दर बोले – "महाराज, इसमे न तो हनुमानजी की विशेषता है न हम लोगों की कमी है, बन्दर तो आकाश में उड़ता नहीं। उसे पक्षी की तरह उड़ने की शक्ति नहीं मिली है। बन्दर तो तभी उड़ेगा, जब उसे पंख मिल जायेंगे। जब आपने हनुमानजी का पक्ष ले लिया, उनसे कहा कि सीताजी के पास जाओ, तो उन्हें आपकी कृपा का पक्ष मिल गया और वे उड़कर पार हो गये। आज आपकी कृपा का वह पक्ष हम लोगों को भी मिला है, तो हम भी छलाँग लगा रहे हैं। गोस्वामी जी ये ही शब्द लिखते हैं –

राम कृपा बल पाइ कपिंदा ।
भये पच्छजुत मनहुँ गिरिंदा ।। ५/३५/३

रामकृपा का बल पाकर लगा, मानो उन्हें पंख मिल गये हों। ईश्वर जब पक्ष लेकर कृपापक्ष प्रदान करते हैं, तो व्यक्ति में ऐसी क्षमता भी आ जाती है कि वह क्षण भर में ही चरम सत्य का साक्षात्कार कर अभिमान की सीमा को पार कर लेता है।

बालि और सुग्रीव के चरित्र में ये दोनों क्रम आपको दिखाई देंगे। सुग्रीव-चरित में साधना का क्रम-विकास दिखाई देगा और बालि-चरित में छलाँग दिखाई देगी। इतनी ऊँची छलाँग रामायण में शायद ही किसी पात्र ने लगाई हो। हनुमानजी की छलाँग की विशेषता तो इस दृष्टि से नहीं है, क्योंकि वे आदि से अन्त तक महान् हैं, पर बालि की छलाँग इसलिए बड़ी अद्भुत है कि उस छलाँग में बालि कहाँ से कहाँ पहुँच गया!

सुग्रीव के चरित्र में जो साधना का क्रम है, वह आपके सामने प्रत्यक्ष है। सुग्रीव सीधे भगवान के प्रेमी नहीं बन गये, क्रम से बने। उसके जीवन में भगवान को देखकर एक संशय है, जिज्ञासा है कि ये कौन हैं? उन्हें हनुमानजी जैसे सन्त का आश्रय प्राप्त है। वे हनुमानजी से पूछते हैं, आप बताइये कि ये कौन हैं? हनुमानजी जैसे सन्त के द्वारा उन्हें भगवान के निकट ला देना, यही साधना का क्रम है। जीव के हृदय में ईश्वर के प्रति संशय है, जिज्ञासा है। उस संशय और जिज्ञासा के समाधान के लिए किसी सन्त का आश्रय लेना चाहिए। हनुमानजी सन्त हैं। सन्त की विशेषता यह है कि वे भगवान को हमारे जीवन के निकट ला देते हैं, पर उसके बाद भी समस्या का पूरा समाधान नहीं हो जाता। भगवान ने जीव को हृदय से लगाकर मित्र बनाया और सुग्रीव से पूछा – सुग्रीव तुम्हारी समस्या क्या है? –

कारन कवन बसहु बन मोहि कहहु सुग्रीव । ४/५

सुग्रीव ने पूरी कथा सुनाई। प्रभु उन्हें आश्वस्त करते हैं – चिन्ता न करो – मैं एक बाण में ही बालि का वध कर दूँगा –

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान । ४/६

जीव की समस्या का भार ईश्वर ने अपने ऊपर ले लिया। प्रभु स्वयं अपनी ओर से पूछते हैं – बताओ, तुम्हारी समस्या क्या है? मैं उसका समाधान करूँगा। पर जीव की समस्या बड़ी जटिल है। भगवान ने तो कह दिया कि मैं बालि को एक ही बाण से मारूँगा, पर उनके इस वाक्य को सुनकर सुग्रीव क्या निश्चिन्त हो सके? नहीं, जीव का संशय इतना प्रबल है कि सुग्रीव ने तत्काल कहा – महाराज, आपने सोच-समझकर यह प्रतिज्ञा की है या बिना सोचे-समझे? – क्यों? बोले – पहले सुन लीजिए कि बालि कौन है – बालि तो महाशक्तिशाली है, बहुत बड़ा योद्धा है –

बालि महाबल अति रनधीरा । ४/७/११

आपने तो जरा जल्दी में कह दिया कि मैं उसे मारूँगा और एक ही बाण से मारूँगा। ऐसा भला कैसे हो सकता है? प्रभु बोले – अच्छा, तो तुम्हें विश्वास कैसे होगा? इसका अर्थ है कि ईश्वर के मिल जाने के बाद भी, ईश्वर पर विश्वास होना कठिन है। न जाने कितने लोग ईश्वर को देखकर भी उन पर

विश्वास नहीं कर पाते। ईश्वर भले ही पहले मिल जायँ, पर क्या विश्वास मिलता है?

भगवान ने पूछा – विश्वास कैसे होगा? सुग्रीव ने कहा – परीक्षा देनी होगी। सुग्रीव ने भगवान की परीक्षा ले ली। वहाँ पर दुन्दुभी राक्षस की हड्डी पड़ी हुई थी और सात ताड़ के वृक्ष लगे हुए थे। सुग्रीव ने कहा – महाराज, मैंने सुना है कि इन सातों ताड़ के वृक्षों को जो एक ही बाण से वेध देगा और दुन्दुभी राक्षस की इस हड्डी को अपने पैर के अँगूठे से सौ योजन दूर फेंक देगा, वही बालि को मार सकेगा। प्रभु की यह इतनी उदारता है कि जीव को विश्वास दिलाने के लिए वे कितना गर्हित कार्य करने को प्रस्तुत हो जाते हैं। प्रभु से राक्षस की हड्डी फेंकने का कार्य कराया गया, इससे भी गन्दा काम क्या कुछ हो सकता है? पर भगवान कहते हैं – यदि तुम्हें इसी से विश्वास हो जाय तो चलो हम यह भी करने को तैयार हैं, तुम परीक्षा लेकर देख लो। गोस्वामीजी ने कहा –

राम कृपा बिनु सुनु खगराई।
जानि न जाइ राम प्रभुताई।।
जानें बिनु न होइ परतीती।
बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।।
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।
जिमि खगपति जल कै चिकनाई।। ७/८९/६-८

भगवान की कृपा के बिना उनकी महिमा नहीं जानी जाती। जब तक जानते नहीं, तब तक विश्वास नहीं होता, जब तक विश्वास नहीं होता, तब तक प्रीति नहीं होती और जब तक प्रीति नहीं होती, तब तक भक्ति में दृढ़ता नहीं आती। उत्तर-काण्ड में यह भक्ति के क्रमिक विकास का क्रम है। सुग्रीव के चरित में यही हुआ। उसने भगवान को दुन्दुभी राक्षस की हड्डियाँ और ताल के वृक्ष दिखाये। श्री रघुनाथ ने अनायास ही उन्हें ढहा दिया। उनका यह असीम बल देखकर जब सुग्रीव जान गया तब उसे विश्वास हुआ और विश्वास हुआ तो प्रीति बढ़ी। विश्वास भी हो गया, प्रीति भी हो गई –

दुंदुभि अस्थि ताल देखराए।
बिनु प्रयास रघुनाथ ढहाए।।
देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती।
बालि बधब इन्ह भइ परतीती।। ४/७/१२-३

सुग्रीव बोले – हाँ महाराज, मैं समझ गया कि आप बालि का वध कर देंगे। पर जीव का विश्वास कैसा होता है? क्या इसके बाद सुग्रीव के जीवन में समस्याएँ नहीं आयीं? वे तो पग पग पर आती हुई दिखाई देती हैं। गोस्वामीजी ने एक बहुत बढ़िया बात कही। उनसे पूछा गया – आप रामायण कैसे लिख रहे हैं? बोले – भगवान की प्रेरणा से। पर उसके साथ उन्होंने एक विचित्र बात जोड़ दी। क्या? – मुझमें जितना बुद्धि-बल है, प्रभु की प्रेरणा से उतना ही लिखूँगा –

जस कछु बुधि बिबेक बल मेरें।
तस कहिहउँ हियँ हरि के प्रेरें।। १/३१/३

इसका अर्थ क्या है? जब भगवान की प्रेरणा से लिखना है, तो अपने बुद्धि-बल-विवेक की बात क्यों कहते हैं? इसका उत्तर यह है कि जैसे किसी के पास दूध का अगाध सागर है और आप सुन लें कि वे बड़े उदार हैं, बड़ी उदारता से दूध बाँट रहे हैं, तो यह सुनकर आप दूध लेने जायेंगे, वे तो सचमुच बड़ी उदारतापूर्वक दूध बाँट रहे हैं, पर आप तो उतना ही दूध लेकर लौटेंगे जितना बड़ा आपका पात्र है। इसी प्रकार से भगवान की महिमा के साथ साथ जीव के विश्वास का बर्तन जितना बड़ा होगा, ईश्वर की महिमा उसमें उतनी ही समायेगी, वहाँ पर उतनी ही दिखेगी। इसीलिए –

नोइ निबृत्ति पात्र बिस्वासा।
निर्मल मन अहीर निज दासा।। ७/११७/१२

विश्वास को पात्र कहा गया। इसका अभिप्राय क्या है? यह कि ईश्वर में अनन्त सामर्थ्य है, लेकिन जीव में उसे ग्रहण करने की जितनी क्षमता होगी, उसी क्षमता की सीमा तक वह उसे ग्रहण कर सकता है, कर सकेगा। सुग्रीव के चरित में भी यही सत्य दिखाई पड़ता है। भगवान तो महान् हैं, पर पात्र छोटा निकला। भगवान श्रीराम ने सुग्रीव से कहा – अच्छा, अब तो तुम्हें विश्वास हो गया कि मैं बालि को मारूँगा? – हाँ, महाराज, हो गया। – तो अब तुम एक काम करो, किष्किंधापुरी जाकर बालि के महल के सामने जरा गर्जना तो करो, बालि को चुनौती दो। सुग्रीव प्रभु का मुँह देखने लगे, बोले – प्रभो, आपने तो कहा था कि बालि को मैं मारूँगा! अब उसे चुनौती मैं दूँगा कि आप? भगवान बोले – मारूँगा मैं, पर चुनौती तुम दोगे, तुम लड़ोगे। यह बड़ा अनोखा तत्त्वज्ञान है। गीता में भगवान अर्जुन से कहते हैं कि कर्म तुम करोगे और उसका फल मैं दूँगा। भगवान कहते हैं – कर्म से हम तुमको भागने नहीं देंगे ... लड़ना तो तुम्हें पड़ेगा, पर उसके परिणाम का अधिकार तुम्हारे पास नहीं मेरे पास है।

बेचारे सुग्रीव अब किसी प्रकार चले। पर बड़ी विचित्र बात हुई। सुग्रीव की गर्जना सुनकर जब बालि निकला और सुग्रीव से उसका युद्ध हुआ तो सुग्रीव हार गये। भगवान की प्रेरणा से युद्ध करने गये तो भी हार गये। इतना ही नहीं, बालि ने उन्हें इतने जोर से मुक्का मारा कि वह वज्र-सा लगा –

तब सुग्रीव बिकल होइ भागा।
मुष्टि प्रहार बज्र सम लागा।। ४/८/३

बेचारे सुग्रीव फिर भागे। वे तो स्वभाव से ही भगोड़े थे, परन्तु अच्छा ही हुआ कि पहले संसार की ओर भागा करते थे, पर अब भागकर भगवान के पास आ गये और उलाहना दिया – प्रभो, आपने तो कहा था बालि का बध करूँगा, पर आपने बिल्कुल नहीं किया। भगवान ने मुस्कुराकर कहा – तुम दोनों

भाई इतने एक-से दीखते हो, अतः मैं पहचान नहीं सका कि बालि कौन-सा है और तुम कौन-से? इसीलिए नहीं मारा –

एक रूप तुम्ह भ्राता दोऊ ।
तेहि भ्रम तें नहिं मारेउँ सोऊ ।। ४/८/५

भगवान ने थोड़ा टटोलने के लिए कहा – अच्छा सुग्रीव तुम्हारे शरीर में बड़ी पीड़ा है न ! मैं तुम्हारे शरीर को छूकर पीड़ा दूर कर दूँगा और अपना बल तुम्हें देकर भेजूँगा, तब तो तुम लड़ने जाओगे न ! सुग्रीव सोचने लगे – ठीक ही तो है, जब पीड़ा दूर हो जायेगी और भगवान का बल मिल जायेगा, तब तो बड़ी अच्छी बात है, शायद मैं ही जीत जाऊँ ! और जीत गया, तो इतिहास में यही लिखा जायेगा कि भले ही सुग्रीव पहली बार हार गया, पर अन्त में उसने बालि को हरा दिया। उसने हामी भर दी और प्रभु के स्पर्श से उसकी पीड़ा दूर हो गयी और शरीर वज्र का हो गया। इस प्रकार भगवान ने विशाल बल देकर उसे लड़ने के लिए भेजा –

कर परसा सुग्रीव सरीरा ।
तनु भा कुलिस गई सब पीरा ।।
मेली कंठ सुमन कै माला ।
पठवा पुनि बल देइ बिसाला ।। ४/८/६-७

लेकिन जब युद्ध हुआ, तो सुग्रीव फिर हार गया। बालि और सुग्रीव में एक अनोखा अन्तर है। ध्यान रहे, सुग्रीव जिस बात को बहुत कठिनाई से समझ पाये थे, बालि उसे न जाने कबसे जानता था। श्रीराम के ईश्वरत्व को पहचानने में सुग्रीव को समय लगा। जहाँ तक उसकी आँखों का सम्बन्ध था, वह तो यही समझ रहा था कि ये बालि के भेजे हुए मुझे मारने आ रहे हैं। यदि उन्होंने अपनी आँखों पर भरोसा किया होता तो भाग खड़े हुए होते। भगवान से मिलने के बाद भी संशय दूर नहीं हुआ, परीक्षा करके देख लिया तो भी यह स्थिति है। परन्तु लगता है कि बालि भगवान से भलीभाँति परिचित है। यही बालि के जीवन का एक उज्ज्वल पक्ष है, पर इसके साथ ही उसके जीवन में दुर्बलता भी है और वह सामने आयी। बालि का भगवान राम से कभी प्रत्यक्ष मिलन या परिचय नहीं हुआ, मगर बालि भगवान के बारे में इतना निश्चित है, उनके भगवत्त्व से वह इतना सुपरिचित है कि जब वह सुग्रीव से लड़ने चला तो तारा ने उसके पैर पकड़ लिये और कहा – नाथ, क्या आपने सुग्रीव की गर्जना नहीं सुनी? यह गर्जना बता रही है कि उसके पीछे किसी का बल है। मैं आपको इसकी सूचना दे दूँ। शायद आपको पता न हो कि सुग्रीव से जिनकी मित्रता हो गयी है, वे महान् बलशाली हैं –

सुनु पति जिन्हहि मिलेउ सुग्रीवा ।
ते द्वौ बंधु तेज बल सींवा ।।
कोसलेस सुत लछिमन रामा ।
कालहु जीति सकहिं संग्रामा ।। ४/७/२८-९

तारा ने सोचा था कि इस सूचना से बालि डर जायेगा, पर बालि का उत्तर क्या बताता है? बताता है कि उसे ईश्वर का ज्ञान है। तारा की बात पर बालि हँसा। – हँस क्यों रहे हो? वह हँसते हुए बोला – "तुम उन्हें मनुष्य कह रही हो, बलवान व्यक्ति कह रही हो, मुझे तो तुम्हारी बुद्धि पर तरस आ रहा है। अरे, वे मनुष्य नहीं, बलवान राजकुमार नहीं, वे तो साक्षात् ईश्वर हैं। जानने की यह पद्धति सुग्रीव के चरित्र में लम्बी है, परन्तु बालि के जीवन में यह ज्ञान बिल्कुल स्पष्ट है कि वे भगवान हैं। बालि भावुक भी बहुत है। ज्ञान और भावना दोनों ही उसके अन्तःकरण में है। सुग्रीव को भगवान की भगवत्ता पर जितना विश्वास है, बालि को उससे कहीं अधिक है। इसे यों कह सकते हैं कि बालि का पात्र बड़ा है, सुग्रीव का उसकी तुलना में छोटा है। पर जिसे हम बालि का दुर्बल पक्ष कहते हैं, वह उसके द्वारा तारा को कहे गये दो वाक्यों से प्रगट होता है। उनमें से एक विचारमूलक है और दूसरा भावनामूलक, लेकिन दोनों का जो निष्कर्ष निकला वह सही नहीं था – ब्रह्म तो वस्तुतः सम है। श्रीराम ब्रह्म हैं, वे सम हैं। तुम चिन्ता मत करो कि वे सुग्रीव का पक्ष लेंगे और मेरा विरोध –

कह बालि सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ । ४/७

'ईश्वर सम है' – यहाँ तक उसका कहना बिल्कुल ठीक है, पर इसका यह निष्कर्ष निकालना ठीक नहीं है कि वे सुग्रीव का पक्ष नहीं लेंगे। उसके वाक्य में एक गुण है, तो एक दोष भी है। दूसरी ओर वह तारा से भावुकता के स्वर में यह भी कहता है – यदि तुम्हें लगता है कि वे मुझे मार देंगे, तो भी तुम्हें चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं। बालि मृत्यु से इतना निर्भय है। सुग्रीव तो इतने भयभीत दिखाई देते हैं, पर बालि के जीवन में आदि से अन्त तक मृत्युभय था ही नहीं। वह कहता है – यदि ईश्वर ने मुझ पर बाण चलाकर मुझे मार भी दिया, तो मैं तो धन्य हो जाऊँगा –

जौं कदापि मोहि मारहिं तौ पुनि होउँ सनाथ ।। ४/७

इस प्रकार एक तो ईश्वर सम है और यदि नहीं भी है तो उसके प्रहार में कृपा हो सकती है – इन दोनों बातों का ज्ञान बालि के जीवन में है। इस अर्थ में वह सुग्रीव की अपेक्षा ईश्वर से अधिक निकट है। पर कमी उसमें इस अर्थ में है? ईश्वर सम है – इस ज्ञान का यदि हम यह अर्थ लें कि ईश्वर पाप और पुण्य में सम है, अतः मनमाने पाप करो, चिन्ता की कोई बात नहीं, तब तो ईश्वर का समत्व समाज के लिए बड़ा घातक सिद्ध होगा। समत्व यदि हमें पाप की दिशा में, अन्याय की दिशा में प्रेरित करे, तब तो हमने उस समत्व का दुरुपयोग ही किया। इसी प्रकार भगवान के बाण के प्रहार में भी कृपा दिखे, तो इस सिद्धान्त का यह अर्थ तो नहीं होता कि हम यही चेष्टा करें कि भगवान हमें मारें। वे रावण पर भी कृपा करते हैं, अतः हम रावण ही बन जायँ। यह तो कृपा का बड़ा

विचित्र अर्थ हुआ। कथा से बड़ी विचित्र प्रेरणा मिली। अत: गोस्वामीजी ने बालि के इस ऊँचे ज्ञान और भावना का उल्लेख करने के बाद उसे एक उपाधि दे दी। बोले – इतना ज्ञान और भावना के होते हुए भी वह अभिमान से मुक्त नहीं है। पता है वह कैसे चला? – सुग्रीव को तिनके जैसा मानकर –

अस कहि चला महा अभिमानी ।
तृन समान सुग्रीवहि जानी ।। ४/८/१

उसके व्यवहार से पता चल गया कि उसे कितना अभिमान है। अभिप्राय है कि हमारे ज्ञान और भावना की कसौटी तो हमारा व्यवहार है। यदि बालि की समझ में आ गया है कि श्रीराम साक्षात् ईश्वर हैं, तब तो उसे यही अनुभव करना चाहिए कि भगवान की कृपा मेरे ऊपर है, तो सुग्रीव के ऊपर भी है। परन्तु बालि के मन में अब भी यह बात बनी हुई है कि यह सुग्रीव मुझसे क्या लड़ेगा, वह तो तृण के समान है।

बालि के जीवन में ज्ञान भी सुग्रीव से अधिक है, ईश्वर के प्रति भावना भी अधिक है, मगर उसके जीवन में जो परिणाम निकलना चाहिए था, वह नहीं निकल रहा है। सुग्रीव पर प्रहार करके, उसे हराकर वह बड़ी प्रसन्नता का बोध कर रहा है।

और सुग्रीव? प्रभु का बल लेकर गये, तो भी बेचारे हार क्यों गये? यदि आप दूध लेने को फूटा लोटा लेकर किसी के पास जायँ और वह उसे दूध से भर दे, पर घर आते तक सारा दूध बह जाय, तो देनेवाले का क्या दोष? सुग्रीव लड़ने चला, तो सोचने लगा कि बालि क्या केवल भगवान के बल से हार जायेगा? उसे सन्देह हुआ और उसने एक चतुराई की। उसने सोचा – ठीक है, भगवान का बल तो है ही, उसमें थोड़ा-सा अपना छल भी मिला दें, यह छल ही सबसे बड़ा छेद है –

निर्मल मन जन सो मोहि पावा ।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा ।। ५/४४/५
बहु छल बल सुग्रीव कर ... ... ।। ४/८

अपना छल पहले, ईश्वर का बल बाद में, मानो सुग्रीव का विश्वास स्थिर नहीं है, उसमें छल-छिद्र है और उस छिद्रवाले बरतन में इतना बल दिया, इतनी कृपा दी, फिर भी उसने सब खो दिया, बालि से हार गया। इस संघर्ष में बालि विजयी हुआ, तब सुग्रीव के मन में निराशा हुई और भगवान के प्रति अनन्य शरणागति का भाव उदय हुआ। लगा – प्रभो, अब तो आप ही मुझे बचा सकते हैं, आप ही मेरी रक्षा कीजिए। भगवान ने बाण चलाया और सुग्रीव की रक्षा हो गयी।

इस तरह से सुग्रीव के चरित्र में साधना की दृष्टि से एक क्रमिक विकास है। इसके बाद भी सुग्रीव के चरित्र में समस्याएँ आती हैं। बालि का वध करने के बाद भगवान ने सुग्रीव को राज्य दे दिया, पर राज्य देते समय उन्होंने सुग्रीव को सावधान कर दिया। बोले – एक बात याद रखना – सीताजी का पता लगाना है, इस बात को भूलना मत –

अंगद सहित करहु तुम्ह राजू ।
संतत हृदयँ धरेहु मम काजू ।। ४/१२/९

लेकिन राज्य पाकर सुग्रीव एक बार फिर भूल गये। तब हनुमानजी और लक्ष्मणजी द्वारा भय दिखाकर उन्हें लौटाना पड़ा। इस तरह सुग्रीव के जीवन में मिठाई और कड़वी दवाई – दोनों का प्रयोग किया गया। बच्चों को मिठाई बड़ी पसन्द होती है। उनकी पढ़ाई का श्रीगणेश मिठाई से करना पड़ता है – स्कूल जाओगे तो मिठाई मिलेगी। पर मिठाई मिलने से यदि अजीर्ण हो जाय, तो दवाई भी देनी पड़ती है। सुग्रीव को भी राज्य मिला, पत्नी मिली, यह सब मिठाई थी, पर भोगों पर पड़कर जब वे रोगग्रस्त हो गये, तो भगवान ने लक्ष्मणजी को भेजा कि अब तो दवाई देनी ही पड़ेगी और भगवान को उस समय याद बालि की ही आई। उन्होंने कहा – जिस बाण से मैंने बालि को मारा, उसी से कल मैं सुग्रीव को मारूँगा –

जेहिं सायक मारा मैं बाली ।
तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली ।। ४/१८/५

लक्ष्मणजी बोले – यह कार्य आप मुझे सौंप दें, मैं अभी जाकर उसे मार देता हूँ। प्रभु ने कहा – क्या तुम सोचते हो कि मैं सचमुच उसे मारने की योजना बना रहा हूँ? लक्ष्मणजी बोले – प्रभो, अभी तो आप यही कह रहे थे। भगवान बोले – मैं इसलिए कह रहा था कि यह सुनकर डर के मारे शायद वह रास्ते पर आ जाय। जैसे कोई रोगी हो जाय और जिस दवा का प्रयोग करके वैद्य उसका अच्छा फल देख चुका हो, वही दवा उसे याद आती है कि यह दवा अमुक रोगी पर बहुत बढ़िया काम आयी थी। यह उसी तरह का रोग दिखाई दे रहा है, इसलिए मैंने कहा कि वह बालि-वाली दवा ही ठीक है। लक्ष्मण, यह मेरा बाण ही तो दवा है। बालि के हृदय में जो रोग हो गया था, वह एक ही बाण से दूर हो गया, इसलिए यह बहुत बढ़िया दवा है। सुग्रीव को मिठाई तो बहुत मिल गई, अब इस बाण की कड़वी दवा से उसके हृदय में, उसके जीवन में परिवर्तन हो, इसलिए मैंने ऐसा कहा। लक्ष्मणजी ने पूछा – प्रभो, अब करना क्या है? भगवान बोले – "भय के कारण ही तो सुग्रीव भक्त बना था। बालि को मिटा दिया तो उसका भय दूर हो गया और इसका परिणाम यह हुआ कि अब मुझे ही भूल गया। पर उसका स्वभाव अब भी वैसा ही है। जाओ, थोड़ा सा डर उसमें फिर पैदा कर दो, वह फिर भक्त बन जायेगा।" लक्ष्मणजी प्रसन्न होकर चलने लगे, तो सुग्रीव के डरपोक और भगोड़े स्वभाव को ध्यान में रखकर भगवान बोले – लक्ष्मण, जरा ध्यान रहे, वह जितना डरपोक है, उतना ही भगोड़ा भी है। ऐसा न डराना कि वह दूसरी ओर भाग खड़ा हो, बल्कि ऐसा डराना कि इधर ही आये –

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुना सींव ।

भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव ।। ४/१८

इसी में भय का सदुपयोग है। भगवान कहते हैं – भय भय के लिए नहीं है, भय का उपयोग प्रेम के लिए है –

भय बिनु होइ न प्रीति ।। ५/५७

कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनके जीवन में बिना भय के प्रीति नहीं होती है। ऐसे लोगो के जीवन में प्रेम लाने के लिए भय का उपयोग करना चाहिए। भय करना बुरा है, भय नहीं करना चाहिए – ऐसा कहकर भय से छुटकारा नहीं पाया जा सकता। जिनकी प्रकृति ही ऐसी बनी हुई है, उनके लिए भय से मुक्ति का कोई उपाय नहीं है, पर इसका भी सदुपयोग है। सुग्रीव के चरित्र में भय का यह रूप भी दिखाई देता है।

इसी तरह से बीच बीच में उसके जीवन में एक एक कमी दिखाई देती है और वह क्रमश: दूर होती जाती है, पर बालि के चरित्र में मानो एक क्षण में सब कुछ हो गया। उसकी छाती पर जब भगवान का बाण लगा, तो क्षण भर में कितना बड़ा परिवर्तन हो गया। उसने एक ऐसी लम्बी छलाँग लगायी कि सुग्रीव को जो जीवन भर में नहीं मिला, वह उसे क्षण भर में मिल गया। इसका सूत्र यह है कि **अहंता** और **ममता** यानी 'मैं' तथा 'मेरा' का भाव – जीवन में दो चीजों का त्याग सबसे कठिन है – जो व्यक्ति **अहम्** एवं **मम** से मलिन है, उसके लिए ब्रह्मसुख अगम है –

कबिहि अगम जिमि ब्रह्मसुखु
अह मम मलिन जनेषु ।। २/२३५

आप बालि और भगवान के संवाद पर विचार करके देखें। क्या पता चलता है? भगवान ने बालि को खूब फटकारा। खूब आरोप लगाये। कहा कि तुम बड़े अभिमानी हो, लेकिन जिसने एक ही क्षण में **अहम्** और **मम** दोनों का इतना सुन्दर उपयोग किया, जो इतनी सरलता से **अहम्** और **मम** से ऊपर उठ गया, उस बालि की याद भगवान को आती है।

भगवान जब भी अंगद को याद करते हैं, उन्हें बालि की याद आ जाती है और इसलिए वे अंगद को बालिपुत्र कहकर ही सम्बोधित करते हैं। बालि जीवन भर विजेता रहा और अन्त में भी वह सुग्रीव से बाजी मार ले ही गया। कैसे? जब बालि ने भगवान से पूछा – मेरा अपराध क्या है? भगवान ने कहा – तुम बड़े अभिमानी हो। तब बालि ने बड़े कोमल शब्दों में भगवान से केवल यही निवेदन किया कि – "प्रभो, मैं अभिमानी तो अवश्य था, पर आपके सामने आने के बाद भी, आपका बाण लगने के बाद भी क्या मैं अभिमानी बना हुआ हूँ? और यदि बना हुआ हूँ तो इसका अर्थ यह हुआ कि अभिमान आपसे बड़ा है। आपकी विलक्षणता तो यही है न कि आपके सम्मुख होते ही अभिमान नष्ट हो जाता है? तो फिर बताइये कि क्या मैं अभिमानी हूँ?" भगवान बालि की बात सुनकर तत्काल समझ गये और उन्होंने बालि के मस्तक पर हाथ रखकर कहा – नहीं, नहीं, मैं अपनी योजना वापस लेता हूँ, तुम्हें मारने की इच्छा नहीं है मेरी, अब मैं चाहता हूँ कि तुम शरीर से अचल हो जाओ, शरीर की रक्षा करो –

अचल करौं तनु राखहु प्राना ।। ४/१०/२

कितना बड़ा प्रलोभन है? व्यक्ति में कितना बड़ा होता है मृत्यु से बचने का प्रलोभन? आज साक्षात् भगवान बालि से जीवित रहने के लिए कह रहे हैं। परन्तु बालि के विचार तथा भावुकता दोनों इतने अद्भुत रूप से सामने आयीं कि उन्होंने मना कर दिया। उन्होंने दो कारणों से भगवान का प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। एक तो उनको लगा कि मैं जीवित रहकर प्रभु के लिए समस्या पैदा करूँगा। क्या? बोले – वे सुग्रीव को कह चुके हैं कि बालि को मैं एक ही बाण से मारूँगा और वह बेचारा न जाने कबसे सिंहासन पर बैठने की कल्पना कर रहा होगा। मैं जीवित रहा, तो प्रभु का वचन पूरा नहीं होगा। उनका वचन पूरा होना चाहिए। दूसरी बात यह कि बालि ने प्रभु से कहा – प्रभो, आप मुझसे जीवित रहने के लिए कह रहे हैं, तो समझ गया कि आप मुझसे पूरी तरह से प्रसन्न नहीं हैं। भगवान बोले – "बालि, यह तुम क्या कह रहे हो? ईश्वर कह रहा है कि तुम जीवित रहो और तुम कह रहे हो कि ईश्वर प्रसन्न नहीं हैं।" बालि ने कहा – "नहीं, महाराज, शायद आपको लगता होगा कि बालि अहम् के केन्द्र बने हुए इस देह को ही सब कुछ मानता है।" व्यक्ति जब **मैं** कहता है, तो वह **मैं** को शरीर के रूप में, स्वयं को शरीर के रूप में देखता है। "तो प्रभो, भले ही मैं कभी देहाभिमानी रहा होऊँ, पर मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि अब ऐसी बात नहीं है।" –

मोहि जानि अति अभिमान बस
प्रभु कहेउ राखु सरीरही ।
अस कवन सठ हठि काटि सुरतरु
बारि करिहि बबूरही ।।
अब नाथ करि करुना बिलोकहु
देहु जो बर मागऊँ ।। ४/१०/छं. १-२

बालि ने भगवान से यहाँ तक कह दिया कि आप मुझे मुक्ति भी मत दीजिए। सुग्रीव तो राज्य पाकर प्रसन्न हो गए, परन्तु बालि ने कहा – महाराज, यदि आपको लगता है कि अब भी मेरे पाप बचे हुए हैं, तो मैं चाहता हूँ कि मेरा जन्म हो, परन्तु एक वरदान आप मुझे अवश्य दीजिए – जन्म-जन्मान्तर में आपके चरणों में मेरा प्रेम बना रहे –

जेहिं जोनि जन्मौं कर्म बस
तहँ राम पद अनुरागऊँ ।। ४/१०/ छं.२

भगवान भाव-विभोर हो जाते हैं। पहले बालि से सुग्रीव हारा, फिर भगवान से बालि हारा, पर अन्त में अब बालि से भगवान हार जाते हैं। इस देहाभिमान से मुक्ति, अहम् का ऐसा

त्याग कि जीवन में रंचमात्र भी ममता न हो। बालि ने अपनी अहंता और ममता का सर्वश्रेष्ठ उपयोग किया। अहम् था शरीर में और ममता थी अपने बेटे में। उसने दोनों को दो स्थानों में लगा दिया। अपनी अहंता को तो –

रामचरन दृढ़ प्रीति करि
बालि किन्ह तनु त्याग।
सुमन माल जिमि कंठ ते
गिरत न जानइ नाग ।। ४/१०

बालि ने ऐसे देहाभिमान से मुक्त होकर अपने प्राणों की माला भगवान के चरणों में चढ़ा दी। तब हमारे प्रभु बालि के प्रेम में ऐसे बँधे कि आगे चलकर आप देखेंगे कि उसने अंगद को अपने पास बुला लिया और बोले – प्रभो, मेरी अहंता आपके चरणों में रहे। और अंगद का हाथ प्रभु के हाथ में देकर बोले -- यह मेरी ममता रहे आपके कर-कमलों में। बालि ने कितनी सुन्दर बात कही –

यह तनय मम सम बिनय बल
कल्यानप्रद प्रभु लीजिए। ४/१०/ छं.

मरते समय वह कह सकता था – अच्छा, महाराज, इतना ध्यान रखियेगा कि मेरे सिंहासन पर मेरे बेटे को ही बैठाइएगा। लेकिन बालि ने यह बिल्कुल नहीं कहा। उसने कहा – महाराज, इसको मैं इसलिए नहीं दे रहा हूँ कि आप इसे राज्य दें। – तब क्यों दे रहे हो? – इसे आप अपना दास बना लीजिए, यही मेरी सबसे बड़ी कामना है –

यह तनय मम सम बिनय बल
कल्यानप्रद प्रभु लीजिए।
गहि बाँह सुर नर नाह
आपन दास अंगद कीजिए ।। ४/१०/ छं.

इस प्रकार बालि ने क्षण भर में ही **अहंता** और **ममता** को त्यागकर ऐसी ऊँची छलाँग लगायी कि ज्ञान और भक्ति की दृष्टि से वह तत्काल बड़ी ऊँचाई पर पहुँच गया। अत: प्रभु जब सुवैल शैल पर विश्राम करने लगे, तो दो लोगों को अपने सिरहाने बैठाया और दो को चरणों में। सुग्रीव की गोद में प्रभु का सिर है, विभीषण कान के पास बैठे हैं, प्रभु का एक चरण अंगद की गोद में है और दूसरा हनुमानजी की गोद में –

बड़ भागी अंगद हनुमाना।
चरन कमल चापत बिधि नाना ।। ६/११/७

किसी ने पूछा – प्रभो, यह जो बैठने का क्रम है, इसमें भी तो कोई उद्देश्य होगा? भगवान बोले – मैंने पदों का बँटवारा कर दिया है। – कैसे? बोले – एक जो लंका का राजपद था, वह विभीषण को दे दिया। दूसरा जो किष्किंधा का राज्य था, वह सुग्रीव को दे दिया, पर ये अंगद और हनुमान तो मेरा ही पद चाहते हैं, अत: इन्हें अपना ही पद दे दिया है, क्योंकि उन्हें अन्य किसी पद की अभिलाषा नहीं है। इस प्रकार बालि का चरित्र अहंता और ममता से मुक्त है, वह अंगद को समर्पित कर चुका है, जिसकी बाँह भगवान ने पकड़ ली है, भगवान उस बालि को कभी नहीं भूल पाते हैं और जब भी अंगद को सम्बोधित करते हैं, तो 'बालितनय' कहकर करते हैं। और बालि के पुत्र होने के नाते वे भी अहंता व ममता से मुक्त हैं।

❖ (क्रमश:) ❖

श्रीरामकृष्ण की बोधकथा

सभी प्राणियों में एक ही ईश्वर है

किसी स्थान पर एक मठ था। मठ के साधु-महात्मा रोज भिक्षा के लिए जाया करते थे। एक दिन एक साधु भिक्षा माँगने गया तो देखा कि एक जमींदार किसी गरीब आदमी को खूब पीट रहा है। साधु बड़े दयालु थे। उन्होंने बीच में पड़कर जमींदार को मारने से मना किया। जमींदार उस समय बहुत गुस्से में था, उसने अपना सारा गुस्सा साधु पर ही उतारा। उसने साधु को इतना पीटा कि वे बहोश होकर गिर पड़े। तब किसी ने मठ में जाकर खबर दी कि तुम्हारे किसी साधु को जमींदार ने बहुत मारा है। सुनकर मठ के साधु दौड़े आए। उन्होंने देखा कि वे साधु बेहोश पड़े हुए हैं। तब वे उन्हें उठाकर मठ में ले आए और एक कमरे में सुला दिया। साधु बेहोश थे, मठ के लोग उनके चारों ओर विषण्ण होकर बैठे थे। कोई पंखा झल रहे थे, तो कोई चेहरे पर पानी छिड़क रहे थे। एक ने कहा, "इनके मुँह में जरा दूध डालकर देखें।" मुँह में थोड़ा थोड़ा दूध डालते डालते साधु को होश आया। वे आँखें खोलकर ताकने लगे। तब किसी ने कहा, "देखें पूरा होश आया है या नहीं, लोगों को पहचान सकते हैं या नहीं।" यह कहकर उसने ऊँची आवाज में साधु से पूछा, "क्यों महाराज आपको दूध कौन पिला रहा है?" साधु ने धीमे स्वर में कहा, "भाई, जिसने मुझे मारा था, वही अब दूध पिला रहा है।" ईश्वर को जाने बिना, पाप-पुण्य के परे गए बिना ऐसी अवस्था नहीं होती।

आचार्य रामानुज (३०)

स्वामी रामकृष्णानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका से वापस लौटने पर चेन्नै की जनता ने उनसे अनुरोध किया कि उस प्राचीन नगरी में भी वे धर्मप्रचार शुरू करें। इसी के उत्तर में उन्होंने अपने गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द को वहाँ भेजा। वहाँ से उन्होंने बँगला मासिक 'उद्बोधन' के लिए श्री रामानुज के जीवन पर एक लेखमाला लिखी, जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। यह उसी के हिन्दी अनुवाद की अन्तिम कड़ी है। – सं.)

मूर्ति-प्रतिष्ठा और तिरोभाव

श्रीरंगम लौटने के लिए श्री रामानुज के यादवाद्रि से प्रस्थान करते समय वहाँ के भक्तगण उनसे बिछुड़ने के भय से बड़े दुखी हुए थे। उस समय यतिराज ने अपनी पत्थर की प्रतिमा बनवाकर उसमें अपनी शक्ति का संचार करके भक्तों को सौंपते हुए कहा था, "मेरे परम प्रियगण, मेरी इस प्रतिमा को तुम लोग मेरा ही स्वरूप समझना। मेरा दर्शन करने की इच्छा प्रबल हो, तो इसके दर्शन से ही तुम्हें निःसन्देह शान्ति मिलेगी। यह बताने के बाद उन्होंने भक्तों से विदा ली थी।

इसके कुछ काल बाद उनकी जन्मभूमि महाभूतपुरी (श्रीपेरम्बुदुर) के निवासी भक्तों ने भी उनकी प्रस्तरमयी प्रतिमा बनवाकर उसमें विधिपूर्वक प्राण-प्रतिष्ठा करके एक विशाल मन्दिर में उसकी स्थापना की थी। कहते हैं कि रामानुज उस समय श्रीरंगम के अपने मठ में बैठकर शिष्यों के समक्ष शास्त्र-व्याख्या कर रहे थे। व्याख्या करते करते वे सहसा मौन हो गये, उनका सारा शरीर जड़वत् निःस्पन्द हो गया और दोनों नेत्रों से रक्त की दो बूँदें टपक पड़ीं। थोड़ी देर बाद चेतना लौटने पर, विस्मित तथा इसका कारण जानने को उत्सुक शिष्यों के पूछने पर उन्होंने बताया, "आज महाभूतपुरी के निवासी भक्तों ने मुझे प्रेमपाश में आबद्ध कर डाला है। उन्होंने मेरी प्रस्तर की प्रतिमा में प्राण-प्रतिष्ठा करके अभी अभी नेत्रोन्मीलन की क्रिया सम्पन्न की है।" यह सुनकर उनके शिष्यों ने साक्षात् श्री गुरुमूर्ति को अपने सामने देखकर स्वयं को सर्वाधिक भाग्यवान समझा।

निःसन्देह श्रीरंगम के निवासी परम भाग्यशाली थे, क्योंकि यतिराज ने अपने जीवन के अन्तिम साठ वर्ष श्रीरंगनाथ स्वामी के चरणों को छोड़ अन्यत्र कहीं भी प्रवास नहीं किया था। सभी दिशाओं से सहस्रों नर-नारी उनका दर्शन तथा भक्तिरसमय, ज्ञानगर्भित, अमृतोपम वाणी का श्रवण करने की कामना से वहीं आया करते थे। उनके दर्शन तथा सत्संग से शुद्धचित्त होकर वहाँ आये भक्तगण आशातीत आनन्द एवं धन्यता का बोध करते हुए अपने अपने स्थानों को लौटते। अल्पकाल के भीतर ही सम्पूर्ण दक्षिणी भारत उनके सर्व-सन्ताप-हारी उपदेशों के प्रभाव में आकर, श्रीमन्नारायण के पादपद्मों का सान्निध्य पाकर रामराज्य के समान प्रतिभात होने लगा। इस प्रकार साठ वर्ष तक **बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय** मर्त्यलोक में निवास करते हुए, पृथ्वी को वैकुण्ठ के समान सुखों की अधिकारिणी तथा अपने शिष्यों को सभी विषयों में अपने ही समान गुणवान बनाने के पश्चात् महामना, लक्ष्मणावतार, उभय-विभूतिपति, भगवान श्री रामानुजाचार्य ने परमपद में प्रवेश करने की इच्छा से अपनी चित्तवृत्तियों को अन्तर्मुखी करते हुए मौन-भाव धारण किया।

इसके पूर्व भी उन्होंने किसी किसी शिष्य के समक्ष अपना अभिप्राय व्यक्त किया था, परन्तु उन लोगों ने इसका अनुमोदन नहीं किया था। अतः जब सम्पूर्ण शिष्य-मण्डली को आचार्य के मौन धारण कर लेने का कारण ज्ञात हुआ, तो वे सभी पितृ-मातृहीन, अनाथ, असहाय बालकों के समान अत्यन्त विकल होकर आँसू बहाने लगे। कोई कोई तो शोक का आवेश संवरण न कर पाने के कारण उच्च स्वर में रुदन कर उठे। इससे भक्तवत्सल यतिराज का चित्त चंचल हो जाने से उनका ध्यान भंग हो गया और उन्होंने सेवकों की व्यथा देखकर कहा, "वत्सगण, तुम लोग अज्ञानियों के समान ऐसे विकल क्यों हो रहे हो? मैं नित्य तुम लोगों के हृदय में निवास करता हूँ। तुम्हें छोड़कर एक पल भी रह पाना मेरे लिए असम्भव है। अतएव तुम लोग क्यों नारीसुलभ मोह के वशीभूत होकर बालवत् आचरण कर रहे हो?" इस पर समस्त शिष्य एक स्वर में बोल उठे, "हे देववर, यह सत्य है, तथापि आपकी परम्पावनी, श्रीनिकेतनी, सर्व-सन्ताप-हारिणी, परमानन्द-दायिनी भागवती तनु का अदर्शन हमारे लिये बड़ा दुःसह है। अतः अपनी सन्तानों के प्रति विशेष अनुग्रह व्यक्त करते हुए और भी कुछ काल के लिए इसे रहने दीजिए।"

भक्तों के हृदय में सुख का विधान करना ही जिनके जीवन का स्वाभाविक व्रत था, उन सर्वाभीष्ट-पूरक आचार्यवर ने शिष्यों की प्रार्थना पर और भी तीन दिवस मर्त्यलोक में निवास करने को सहमति दी। उन्होंने समस्त भक्तों को अपने निकट बुलवाकर उन्हें चौहत्तर उपदेश-रत्न प्रदानकर, उन्हें तथा समग्र जगत् को चिरकाल के लिए ऋणी बना लिया। लौकिक रत्नों की तुलना में वे कितने अधिक मूल्यवान हैं, यह इन दोनों की शक्ति के विषय में थोड़ी चर्चा करने से सहज ही समझ में आ जायेगा। सोना, चाँदी, हीरे, जवाहरात आदि मनुष्य को लौकिक जीवन में किंचित् सुखभोग का अधिकारी बना सकते हैं और वह भी केवल उन्हीं लोगों के लिए सम्भव है, जो दूसरों का

अनिष्ट करना नहीं चाहते तथा जिनकी सद्बुद्धि द्वारा परिचालित आत्मा में मलिनता का परिमाण अत्यल्प है; परन्तु जो कोई परम भाग्यवान इन उपदेश-रत्नों में से किसी एक को भी अपना सके हैं, उनके इहलौकिक सुखभोग का तो कहना ही क्या, भावी जीवन में भी वे अविच्छिन्न आनन्द के भोक्ता होकर वास्तव में स्वयं को धन्य बना लेंगे।

भक्तों को सच्चे धन से सम्पन्न करने के बाद यतिराज ने शिष्यों से कहा, "अब तुम लोगों का सारा अज्ञान दूर हो चुका है। तुम्हें सम्यक् बोध हो चुका है कि भागवत, भक्त और भगवान एक हैं। अत: सच्चा भक्त भला कैसे भगवान से पृथक् हो सकता है? इसलिए इस नश्वर शरीर के छूट जाने पर तुम लोग शोक मत करना।" इस पर दाशरथि, गोविन्द, आन्ध्रपूर्ण आदि कुछ शिष्यों ने कहा, "जिन चरणों के स्पर्श से हमारे समान अगणित अज्ञानान्ध-जन मृत्युजननी अविद्या के हाथ से मुक्त हो गये, जो विशाल श्रीधाम उन्नतहृदय जीव के प्रति करुणा से परिपूर्ण श्री विष्णु के चरणों से अंकित है, जिस मुखपद्म से परमपावनी वाङ्मयी गंगा प्रवाहित होकर समग्र भारतखण्ड को वैकुण्ठ-तुल्य बना चुकी हैं; हे समस्त जीवों के शरण, उन समस्त अंगों की समष्टिभूत आपकी सर्व-शक्तिमयी काया नश्वर-बुद्धिवाले जीवों को अनश्वरता प्रदान करके भी क्या नश्वर कही जा सकती है? हमारा जीवदेह नश्वर है, परन्तु आपकी भागवती तनु नित्य है। अतएव ऐसा विधान कीजिए कि हम आपकी श्रीमूर्ति के दर्शन से वंचित न हों।"

शिष्यों की अश्रुवारि-सिंचित ऐसी प्रार्थना सुनकर भक्तजन-हृदय-कमल-उल्लासकारी, भक्ति की प्रतिमूर्ति, अस्तप्राय ज्ञानसूर्य उन सबके अन्तर का अन्धकार मिटाते हुए बोले, "अविलम्ब कुछ निपुण मूर्तिकारों को बुलाकर उन्हें मेरी प्रस्तरमयी प्रतिमा बनाने का आदेश दो।" शिष्यों ने तत्काल इस निर्देश का पालन किया। तीन दिनों के भीतर यतिराज का प्रतिरूप तैयार हो गया। तब यतिराज ने अपनी प्रतिमूर्ति को शुद्ध कावेरी-जल से स्नान कराने के बाद वेदी पर स्थापित करते हुए **ब्रह्मरन्ध्रं समाघ्राय स्वशक्तिं तत्र दत्तवान्** अर्थात् उसके ब्रह्मरन्ध्र पर नि:श्वास छोड़ते हुए उसमें अपनी शक्ति का संचार किया और शिष्यों को सम्बोधित करते हुए बोले, "वत्सगण, ये ही मेरे द्वितीय स्वरूप हैं। इनमें और मुझमें कोई भेद नहीं। मैं यह जीर्ण देह त्यागकर सम्मुख स्थित नवीन देह धारण करता हूँ।" यह कहकर महामना रामानुज ने अपना शीश गोविन्द की गोद में और चरणकमल आन्ध्रपूर्ण की गोद में रखकर –

गोविन्दाङ्के विधायाथ शिर: शेते महामना: ।
आन्ध्रपूर्णस्य चोत्संगे सम्प्रसार्यांघ्रिपंकजे ।।

और अपने सम्मुख स्थापित निज गुरु श्री महापूर्ण की पादुकाओं का दर्शन करते हुए श्री विष्णु के परमपद को प्राप्त हुए। यह घटना १०५९ शकाब्द (११३७ ई.) की माघीय शुक्ला दशमी तिथि, शनिवार के दिन मध्याह्न के समय हुई। कहते हैं कि उसी समय आकाशवाणी हुई – **धर्मो नष्ट** – अर्थात् मूर्तिमान धर्म अब लोकचक्षु से अन्तर्हित हुआ। **अंकस्य वामा गति:** – इस कथन के अनुसार उपरोक्त वाक्य के ट, न, म तथा ध – इन चार प्रमुख वर्णों से १, ०, ५ तथा ९ की संख्याएँ प्राप्त होती हैं। विद्वानों ने इसके द्वारा यतिराज के तिरोभाव का समय १०५९ शकाब्द निर्धारित किया है।

इसके कुछ दिन बाद ही उनके बाल्यसखा गोविन्द ने भी उनका अनुगमन किया और परमपद में उनके साथ मिलित हुए। अन्य शिष्यगण श्रीमान् पराशर भट्ट के अनुवर्ती होकर यतिराज के चैतन्यमय विग्रह की छाया में निवास करते हुए धर्मसुधार के कार्य में लग गये। अपनी भक्ति के बल से सर्वदा अपने गुरुदेव का अपने हृदय में दर्शन पाने के कारण उन्हें विरह-ताप में दग्ध नहीं होना पड़ा।

❖ (समाप्त) ❖
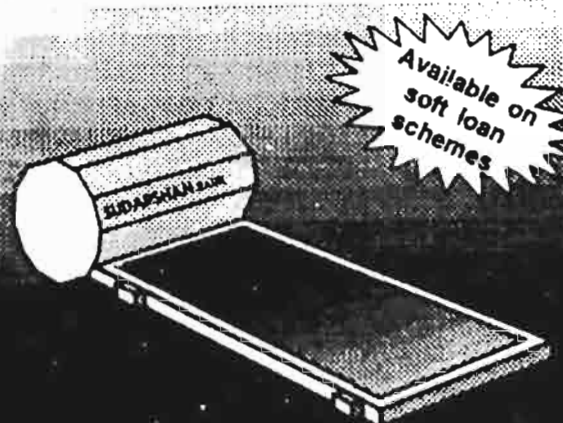
जीने की कला (१०)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागों मे निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। अनुवादक हैं श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत हैं। – सं.)

आर्थिक समस्याएँ

कुछ लोग कहा करते हैं, "धनाभाव न होता तो मैं अद्भुत कार्य कर दिखाता।" अमेरिका में एक पत्रकार हजारों लोगों के जीवन का अध्ययन करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि लगभग ७०% चिन्तायें वित्तीय समस्याओं के कारण होती हैं। भारत जैसे गरीब देश में इस समस्या ने गम्भीर रूप धारण कर लिया है। आर्थिक संकट से ग्रस्त होने पर हम जीवन की समस्याओं को हल करने का साहस खो बैठते हैं। आत्मसंशय, उत्साह की कमी और थकावट हमारे मन को रौंद डालती है; ऊब, आलस्य तथा चिन्ता हमें सताती रहती है। सम्पत्ति की पूजा करनेवाले किसी समाज में गरीबी एक महा-अभिशाप है।

तो क्या आर्थिक समस्याओं का कोई भी समाधान नहीं है? क्या हमें केवल निराशा में हाथ पर हाथ रखकर समस्या के बारे में सोचते रहना होगा?

यह सच है कि बात-की-बात में तुम्हारी आर्थिक समस्याओं को हल कर सकनेवाला कोई जादुई सूत्र हमारे पास नहीं है। परन्तु यदि हम ईमानदारी के साथ विचार और कार्य करें, तो उन्हें हल कर पाना कठिन नहीं होगा। सम्भवत: यह समस्या तुम्हारे या तुम्हारे बड़ों द्वारा संसाधनों के कुप्रबन्ध के कारण पैदा हुई हो। पर इसे हल करने का दायित्व तुम्हारा है। स्थिति से निपटने के लिए तुम्हें ईमानदारीपूर्वक प्रयास करना होगा।

मैं तुम्हें अपने एक मित्र के बारे में बताता हूँ। तीन सदस्यों वाले अपने छोटे परिवार के भरण-पोषण के लिये वह पर्याप्त धन कमाता है। वह एक सरकारी कर्मचारी है। उसे घर चलाने में ज्यादा खर्च नहीं करना पड़ता। तो भी वह हर महीने के आरम्भ में ही ऋणग्रस्त होने लगता है। फिर वह प्राप्त वेतन से पिछले महीने के कर्ज को चुका नहीं पाता। पुराना कर्ज चुकाने के लिये वह किसी अन्य स्थान से नया कर्ज लेता है। इस प्रकार फिर यह घृणित चक्र चलता रहता है। फिर झूठ बोलना जरूरी हो जाता है। मित्रों के द्वारा उधार देने से मना करने पर मित्रता प्रभावित हो जाती है। कभी कभी तो घर की दैनिक जरूरतें भी पूरी कर पाना भी कठिन हो जाता है। घर में किसी के बीमार पड़ जाने या अतिथियों के आ जाने पर स्थिति दुखदायी हो जाती है। यद्यपि सारी गल्ती उसी की है, तो भी वह दूसरों को दोष और समाज को अभिशाप देते हुए कहता है, "लोगों के उद्देश्य तथा कार्य पूरी तौर से स्वार्थमय है।"

ये सज्जन अच्छे और उदार हैं, पर थोड़े अपव्ययी हैं। वे उच्च स्तर से रहना पसन्द करते हैं। मित्रता को महत्त्व देकर वे अच्छे लोगों की संगति ढूँढ़ते रहते हैं। परन्तु बचत करने में उनका विश्वास नहीं है। वे कर्ज लेकर भी टेलीविजन, रेफ्रिजीरेटर, वाशिंग मशीन आदि खरीद लेते हैं। ये सज्जन अपेक्षाकृत आसानी से आरामदेह जीवन बिता सकते थे। उसकी गल्ती केवल इतनी ही है कि वे बिना विचारे अपना धन ऐसी चीजों पर खर्च कर देते हैं, जो उनकी औकात के परे हैं। इस कारण उन्हें कर्ज का आश्रय लेना पड़ता है। इस प्रकार कर्ज और निर्धनता का दुश्चक्र उन्हें पीड़ित किये रहता है।

अर्थ-व्यवस्था एक कठोर शासक है। यह किसी के प्रति दया अथवा सहानुभूति नहीं दिखाता। तुम चाहे जितना भी प्रयास करो, पर धन खर्च किये बिना रह नहीं सकते। परन्तु यदि तुम थोड़ा विचारपूर्वक और भविष्य की जरूरतों को ध्यान में रखकर चलो, तो तुम अपना धन इतनी तेजी से नहीं खर्च करोगे। तात्पर्य यह है कि भविष्य की जरूरतों पर थोड़ा ध्यान देना हमें अपव्यय करने से बचाता है।

वास्तविक समस्या धन के अभाव की नहीं है। महान् अर्थशास्त्रियों की खोज है कि अपने पास के धन का ठीक ठीक उपयोग करना ही बड़ा महत्त्व रखता है। दूसरे शब्दों में, हमें धन खर्च करने की कला सीख लेनी चाहिए। अनेक धनी लोग अपनी आय की अपेक्षा काफी अधिक खर्च कर डालते हैं और इसके फलस्वरूप स्वयं ही आर्थिक संकट पैदा कर लेते हैं। वहीं कुछ ऐसे लोग भी हैं जो अपनी सीमित आय को भी विवेकपूर्वक व्यय करके सुखी, सन्तुष्ट तथा ऋणमुक्त रहते हैं।

इंग्लैंड में रहते समय गाँधीजी हर महीने ४५ पौंड खर्च किया करते थे। बाद में उन्होंने अपना खर्च केवल १५ पौंड तक सीमित कर लिया था।

बैंगलोर में निवास के दौरान गाँधीजी ने महादेव भाई से कहा था, "देखो, कपड़े धुलवाने में काफी व्यय हो रहा है।" महादेव भाई ने कहा, "मै नित्य ४ बजे उठकर मध्य रात्रि तक कार्य करता रहता हूँ।" गाँधीजी ने कहा, "तो फिर प्रात: साढ़े तीन बजे उठकर अपने कपड़े धो लिया करो।"

जब गाँधीजी यरवदा जेल में थे, तब उन्हें सरकार से प्रतिमाह दो सौ रुपये का भत्ता मिला करता था। वे प्रतिमाह केवल ३५ रुपये खर्च करके बाकी राशि सरकार को लौटा

देते थे। गाँधीजी ने तपोमय जीवन बिताया था। माना कि हम सबके लिए उस हद तक किफायती होना सम्भव नहीं है। पर हम लोग भी कुछ हद तक तो जरूर अपना खर्च घटा सकते हैं। गाँधीजी ने अपने जीवन के रूप में हमारे सामने एक दृष्टान्त रखा था। थोड़ा-बहुत ही सही, पर क्या हमें भी उस आदर्श को अपनाने का प्रयास नहीं करना चाहिये?

एक बार एक अँग्रेज ने कहा था, "धन कमाना तो हर कोई जानता है, परन्तु लाखों में से कोई एक ही उसका सही व्यय करना जानता है।" आपात् दृष्टि से एक परस्पर-विरोधी कथन लगता है, पर इसमें एक गहन सत्य छिपा है। यदि हम ईमानदारीपूर्वक अपने दैनिक खर्च पर विचार करें, तो पता चलेगा कि हम कितना अनावश्यक खर्च कर डालते हैं।

हमारे एक मित्र कहा करते थे, "मुझे यह तो दिखता है कि रुपये कैसे सिक्कों में परिणत हो जाते हैं, पर ये सिक्के कहाँ और कैसे गायब हो जाते हैं, इसका मुझे पता नहीं चलता।" बहुत समझा-बुझाकर मैंने उनसे कम-से-कम महीने भर उनके दैनिक व्यय का लेखा-जोखा रखने को राजी किया। शीघ्र ही वे समझ गये कि बिना विचारे किये जानेवाले छोटे-मोटे खर्चों से ही उनके पैसे खत्म हो जाते थे। सामान्यत: हम जिन खर्चों को महत्त्वहीन या नगण्य मानकर उपेक्षा करते हैं, वस्तुत: वे ही अज्ञात रूप से हमारे बजट को असन्तुलित कर देते हैं।

नित्य डायरी लिखना बड़ा लाभकारी है। इससे हमें अपनी वित्तीय समस्याओं का कारण ढूँढ़ने में मदद मिलती है। अपनी आय के आधार पर सामान्य बजट बनाकर हम उसी के आधार पर खर्च करने की आदत डाल सकते हैं।

सर्वप्रथम तो जीवन की मूलभूत जरूरतों पर ध्यान देना होगा। रेडियो या टेलीविजन खरीदने की अपेक्षा स्नानागार की टूटी दीवाल की मरम्मत कराना अधिक महत्त्वपूर्ण है। मेरे एक मित्र ने रेडियो को अधिक आवश्यक माना और इसके फलस्वरूप उनकी आर्थिक समस्या बढ़ गयी। विलासिता को उच्च प्राथमिकता नहीं दी जा सकती और न ही अपनी भावनात्मक जरूरतों की पूर्ति के लिए चीजों की खरीद की जानी चाहिए। खर्च के पूर्व अपने से यह पूछने में अधिक बुद्धिमानी है कि क्या यह चीज सचमुच जरूरी है? परिवारों को भी अपनी आय के भीतर ही गुजारा करने की शिक्षा दी जानी चाहिए। आपात स्थिति से निपटने के लिये हम बैंक के जरिये की गयी अपनी बचत की मदद ले सकते हैं। बीमारी, दुर्घटना जैसी अप्रत्याशित या अपरिहार्य घटनाओं के लिये भी हमारे पास सुरक्षा-व्यवस्था या बीमा हो। लॉटरी, जुआ आदि धन अर्जन के सरल उपाय लग सकते हैं, पर अन्तत: वे हमें बर्बाद कर देते हैं।

एक सुख्यात् बैंकर और अर्थशास्त्री एक बार युवा विद्यार्थियों की एक टोली को आर्थिक सफलता के रहस्य बता रहे थे।

१. कभी अपनी कमाई से अधिक खर्च मत करो।

२. यदि तुम्हारे ऊपर ऋण है, तो पहले उसे चुकाने की चिन्ता करो।

३. कर्ज से दूर रहो। उधारी में कुछ मत खरीदो। कुछ विक्रेता प्रलोभन देते हुए कहते हैं, "अपनी इच्छानुसार जो चीज चाहिए, ले जाइये, पैसे बाद में दे दीजिएगा।" ऐसे लोगों की चाल में मत फँसो।

४. नितान्त आवश्यक चीजों के लिये धन का व्यय करके अपना खर्च घटाओ। कुछ भी खरीदने के पूर्व यह विचार कर लो कि क्या उसके बिना तुम्हारा काम चल सकता है या क्या तुम उससे सस्ती चीज से अपना काम चला सकते हो।

५. जितना भी हो सके, बचत करो; और उसे बुद्धिमत्ता के साथ तथा ठीक ढंग से निवेश करने की कला सीखो।

तुम कह सकते हो कि यह सब तो सबको मालूम है, फिर इन्हें बताने की क्या जरूरत है। परन्तु इसे केवल जान लेना ही पर्याप्त नहीं है। सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात तो यह है कि तुम अपने जीवन में इनका कितना अभ्यास करने में समर्थ हो और तुमने इसे कार्य रूप में परिणत करने का कितना प्रयास किया है। अच्छे अर्थप्रबन्ध के इन पाँच मूलभूत सिद्धान्तों के अभ्यास का प्रयास करो। एक वर्ष तक इन पाँच सिद्धान्तों पर चलने का प्रयास करने पर तुम्हें मेरी बातों की सत्यता समझ में आ जायेगी। इससे तुम्हारी अर्थव्यवस्था निश्चय ही सुधरेगी।

बेकन कहते हैं, "धन एक अच्छा सेवक, पर बुरा मालिक है। धन के सेवक न बनकर, उसी को अपना सेवक बनाओ।"

सफलता का रहस्य

अपने सहकर्मियों के बीच अत्यधिक लोकप्रिय भारतीय जीवन बीमा निगम के एक वरिष्ठ अधिकारी से एक बार मैंने उनकी सफलता का रहस्य पूछा। मैं जानना चाहता था कि क्या चिन्ता और निराशा उन्हें तंग नहीं करतीं? उन्होंने बताया कि एक बार हताशा के शिकार होकर भी किस प्रकार वे उसके भयावह चंगुल से सही-सलामत निकलने में समर्थ हुए थे –

"यद्यपि एक अधिकारी के रूप में अपनी नियुक्ति से शुरू में मैं प्रसन्न था, परन्तु धीरे धीरे एक तरह के भय व चिन्ता ने मेरे ऊपर आधिपत्य जमा लिया। विभिन्न संगठनों में लगभग १७ साल एक कर्मचारी के रूप में कार्य करके मैंने अनुभव प्राप्त किया था। मैं कर्मचारियों के दोषों, कटुताओं, अनुशासन-हीनता, अक्खड़पन आदि स्वभाव से परिचित था। मुझे आशंका थी कि क्या मैं उन्हें कार्य में प्रेरित करके उचित रूप से अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर सकूँगा? अधीनस्थो को अनुशासित रख पाने में विफलता से पैदा होनेवाले सम्भावित मानसिक तनाव से भी मैं भयभीत था। मुझे लगता था कि कभी-न-कभी मेरी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के साथ रस्साकसी अपरिहार्य

हो जायेगी। प्रश्न था ऐसी परिस्थिति से कैसे निपटा जाय। मैं जानता था कि केवल बड़बोलेपन, तर्क-सामर्थ्य और वाद-विवाद की शक्ति से कोई मदद नहीं मिल सकती। प्रतिद्वन्दी को तर्क में परास्त कर देने से भी कोई लाभ नहीं। तर्क में हार जानेवाले लोग बदले की भावना रखकर विजेता को एक-न-एक दिन धराशायी कर सकते हैं। मनुष्य को विजय के बाद भी उल्लास का प्रदर्शन न करने की तथा पराभूत हो जाने पर भी पराजय-भाव अभिव्यक्त न होने देने की कला सीख लेने की जरूरत है। इसके अतिरिक्त कर्मचारियों के दुर्भाव को जीतने के लिए एक सकारात्मक चिन्तन-शक्ति भी विकसित करने की आवश्यकता है। मनोवैज्ञानिक युद्ध में समर्थ, बुद्धिमान, शिक्षित और सुसंगठित कर्मचारी-समूह से प्रभावशाली ढंग से निपट पाना आसान कार्य नहीं था। मैं पहले से ही यह जानता था कि यहाँ किन्हीं चालबाजियों से काम नहीं चलनेवाला है। किसी भी चालाकी का आश्रय लेने पर, वे लोग उसे तत्काल समझ लेते हैं और उसे निष्प्रभावी बनाने के प्रयास में लग जाते हैं। लोगों के हृदय परिवर्तन कर देने की अपेक्षा समस्या के समाधान का कोई अन्य प्रभावशाली उपाय नहीं था। परन्तु इस कार्य का सम्पादन उतना आसान नहीं था। खैर, अपने जीवन में अब तक प्राप्त अनुभवों से मुझमें जो आत्मविश्वास विकसित हुआ था, उसने भी मुझे दृढ़ साहस प्रदान किया। भगवान की कृपा से मैं अपने कार्य में सफल रहा।

"मेरी सफलता का सर्वाधिक श्रेय मेरे धैर्य को जाता है। किसी कार्यालय में आनेवाली समस्याओं को हल करने में धैर्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। अनेक समस्याएँ तनाव और विक्षोभ की अभिव्यक्ति होती हैं। संचित भावनाओं की अभिव्यक्ति के यथेष्ट अवसर मिलें, तो वे निकल जाती हैं। किसी उत्तेजित व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त शब्दों, वाक्यों एवं अभिव्यक्तियों को अक्षरश: नहीं लेना चाहिये। निराशा या उत्तेजना की अभिव्यक्ति के प्रत्युत्तर में क्रोधपूर्ण प्रतिक्रिया दिखाने पर समस्या बढ़ती है तथा अधिकाधिक जटिल होती जाती है। ऐसे अवसरों पर धैर्य बनाये रखना आवश्यक है। कहीं पढ़ा था, "अनेक रोगियों को उनकी बीमारी से निजात पाने के लिये चिकित्सक की नहीं, अपितु एक श्रोता की आवश्यकता होती है।" अपने मन का बोझ हल्का करके और हृदय के दु:ख-कष्ट दूसरों के साथ बाँटकर हम राहत महसूस करते हैं। मानसिक कष्टों के बारे में तो यह विशेष रूप से सत्य है। अनेक कर्मचारियों वाले किसी कार्यालय में मुख्य समस्या मानवीय सम्बन्धों की है। किसी कर्मचारी द्वारा उग्र या क्रोधयुक्त आचरण करने पर एक समस्या खड़ी हो जाती है। तर्क-वितर्क की सहायता से समस्या का कारण ढूँढ़ना बेकार है। हिंसा-भाव को निष्प्रभावी बना देने भर की ही आवश्यकता है। कर्मचारी की भावाभिव्यक्ति को धैर्य और सहानुभूतिपूर्वक सुनना ही सर्वोत्तम तरीका है। अपनी भावनाओं को प्रकट करने के बाद ही उसका क्रोध घट जाता है। समस्याओं के निदान का आश्वासन ही प्राय: समस्याओं को हल कर देता है। अगले दिन शायद उसको अपनी समस्या की याद ही न आये। इस प्रकार धैर्य के द्वारा अनेक समस्याओं का समाधान ढूँढ़ा जा सकता है। धैर्यपूर्वक बात सुनने से पीड़ित व्यक्ति का अहंकार शान्त हो जाता है और उसका स्वाभिमान बढ़ जाता है और निश्चित रूप से उसकी प्रतिक्रिया की तीव्रता घट जाती है। समस्या का समाधान न हो, तो भी वह प्रतिक्रिया आगे नहीं बढ़ती। फिर धैर्य से एक और लाभ यह है कि विरोधी के मन में विजय का भाव आ जाता है। विरोधी को जब लगता है कि उसके विचारों को बिल्कुल ही अस्वीकार नहीं किया गया है तथा उसे विचाराधीन नहीं रखा गया है, तो इससे उसके अहं भाव को काफी सन्तुष्टि मिलती है और उसकी उत्तेजना बहुत कम हो जाती है।"

"परन्तु धैर्य की भी एक सीमा होनी चाहिए। अन्यथा वह स्वयं भी एक दुर्बलता बनकर और भी समस्याएँ पैदा करेगा। धैर्य कहीं उस व्यक्ति की असहायता के रूप में न व्यक्त हो, जो कितने भी भड़कावे के प्रत्युत्तर में मौन रह जाता है। धैर्य को अनुचित मौन निष्क्रियता में परिणत होने से बचाने के लिये व्यक्ति को जानबूझकर किये गये दुर्व्यवहार, बुरी आदतों और मिथ्या दोषारोपण का विरोध करना चाहिए। यदि कोई कर्मचारी जान-बूझकर या लापरवाहीवश अनुशासनहीनता करता है, तो उसे चेतावनी अवश्य दी जानी चाहिए। धैर्य तब सार्थक होता है, जब कोई व्यक्ति परिस्थिति की जरूरतों के अनुसार कड़ी कारवाई करने की ताकत दर्शाता है। सकारात्मक गुण होने के लिए धैर्य को बल का द्योतक होना चाहिये। यह केवल तभी प्रभावशाली हो सकेगा। परन्तु ऐसे कठोर उपायों को अन्तिम विकल्प के रूप में प्रयोग किया जाना चाहिए।

"धैर्य के समान ही ईमानदारी भी एक आवश्यक गुण है। ईमानदारी एक महान् शक्ति है। ईमानदारी का अर्थ है – मन, वाणी तथा कर्म – व्यक्तित्व के तीनों पक्षों का समायोजन। उदारहरणार्थ यदि आप कर्मचारियों को कोई वचन देते हैं, तो ईमानदारी का तकाजा है कि आप तदनुसार कार्य करें या कम-से-कम ईमानदारीपूर्वक वायदे के अनुसार कार्य करने की चेष्टा करें। अन्यथा वह बेईमानी या धोखेबाजी है। धोखेबाजी का शिकार हुआ व्यक्ति अपने अपमान या सदमे को आसानी से नहीं भूलता। किसी-न-किसी रूप में एक-न-एक दिन उसका विस्फोट हो ही जाता है। विस्फोट न होने पर वह अन्दर-ही-अन्दर उबलता रहता है। ईमानदारी से लोगों का दिल जीता जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति अपनी प्रतिज्ञापूर्ति या वचन-रक्षा में समर्थ नहीं हो पाता, तो भी प्रयत्न में ईमानदारी रहने पर उसे महत्त्व दिया जाता है। इससे आदर मिलता है और दूसरों पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ता है।

"सफलता प्राप्त करने के लिये हमें हाथ में लिये हुए कार्य का पूरा ज्ञान होना चाहिये। 'ज्ञान ही शक्ति है' – यह कथन पूर्ण और अविकृत ज्ञान की जरूरत पर बल देता है। इसके अलावा हमें सामान्य ज्ञान अथवा कला, साहित्य, राजनीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र या भाषाओं के अन्य क्षेत्रों के ज्ञान की भी जरूरत है। जो व्यक्ति जितनी अधिक भाषाएँ जानता है, वह उतने ही अधिक विषयों में प्रवीण हो जाता है; फिर वह उतनी ही अधिक दक्षता एवं सामर्थ्य से अपने कामों को कर सकता है और अपने सहकर्मियों के ऊपर वह उतना ही अधिक प्रभाव-विस्तार कर सकता है। यदि अपने कार्य-विषयक हमारा ज्ञान तथा सामान्य ज्ञान अपर्याप्त है, तो हम दूसरों को प्रभावित नहीं कर सकते। कार्य-विषयक ज्ञान का अभाव हमें अपमानजनक स्थिति में डाल सकता है। ज्ञान सचमुच ही महान् शक्ति है। ज्ञान-ज्योति को सदैव प्रदीप्त रखना चाहिये। कार्य-उत्कृष्टता या कार्य-दक्षता प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है।"

"कार्यालय-प्रबन्धन के क्षेत्र में आनेवाली समस्याओं के हल में विनोद और हास-परिहास की क्षमता बहुत सहायक है। एक प्रसन्न मन गम्भीर-से-गम्भीर समस्या के समाधान में सक्षम हो सकता है। एक निराश मन किसी तुच्छ समस्या को भी बहुत गम्भीर समझेगा और उससे कार्यालय का सौहार्द्र विक्षुब्ध हो सकता है। कर्मचारियों के मन को आनन्द में लगाये रखने के प्रयत्न से कार्यक्षमता बढ़ाने में सहायता मिलती है। अत: हास-परिहास और प्रसन्नता का भाव बड़ा महत्त्वपूर्ण है। वैसे हास-परिहास को निरर्थक गपशप में बदलने से बचना चाहिए। एक अच्छा चुटकुला बड़ी विस्फोटक स्थिति को निष्प्रभावी कर सकता है, पर अपनी सीमा पार करने पर हँसी-मजाक भी झगड़े की जड़ बन सकता है। वैसे आम तौर पर हास्य-विनोद एक ऐसी शक्ति है, जो तनावों को छिन्न-भिन्न करने में मदद करती है। हास्य-विनोद का समुचित प्रयोग जीवन की सफलता में महान् योगदान कर सकता है।" ❖ **(क्रमश:)** ❖
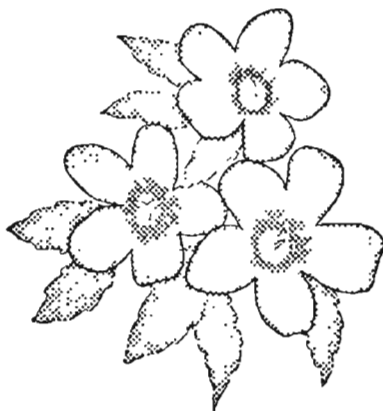
निर्मल नाता रखो सबसे, जग को यही सिखाता दर्पण।
यथा बिम्ब, प्रतिबिम्ब तथावत् सबको त्वरित दिखाता दर्पण।।

कपट-कुटिलता-कलह-क्लेश में, जीवन का सुख-सार नहीं है,
व्यर्थ जन्म उसका, जो जग में, करता पर-उपकार नहीं है।
सबका रूप दिखाकर निज में, अपना धर्म निभाता दर्पण।।

सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् पथ पर, नित्य-निरन्तर बढ़ते जाना,
मानवता के महा शिखर तक, सदा सजग हो चढ़ते जाना।
निरासक्त निष्काम-कर्म का, पावन पाठ पढ़ाता दर्पण।।

जहाँ सत्य का नहीं समादर, वहाँ न्याय भी मान न पाता,
जो अणु को पहचान न पाया, वह विभु का वरदान न पाता,
निर्भयता से सत्य, सत्य की जगमग ज्योति जगाता दर्पण।।

चाहे जितना भी दुख आए, विमुख धर्म से कभी न होना,
टूक टूक हो जाने पर भी, आत्मा का शुभ मर्म न खोना।
खण्ड खण्ड हो जाय भले, पर अपना गुण न गँवाता दर्पण।।

दिन हो या हो रात कभी भी, आलस और प्रमाद न आए,
जो भी हो कर्तव्य, किसी से मन में कभी विषाद न आए।
तिमिर नहीं, केवल प्रकाश का, पावन पथ अपनाता दर्पण।।

किये बिना सन्धान स्वयं का, जग में सच्चा बोध न होगा,
अणु से यदि न विराट् हुआ, तो परमतत्त्व का शोध न होगा।
ज्ञान-देव के आराधन में, जीवन-सुमन चढ़ाता दर्पण।।

ईसप की नीति-कथाएँ (३०)

(ईसा के ६२० वर्ष पूर्व आविर्भूत ईसप, कहते है कि वे पूर्व के किसी देश में जन्मे और यूनान मे निवास करनेवाले एक गुलाम थे। उनके नाम पर प्रचलित अनेक कथाओ पर बौद्ध जातकों तथा पंचतंत्र आदि मे ग्रथित भारतीय कथाओ की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। इन कथाओं में व्यवहारिक जीवन के अनेक कटु या मधुर सत्यों का निदर्शन मिलता है, अत: ये आबाल-वृद्ध सभी के लिये रोचक तथा उपयोगी हैं। – सं.)

खच्चर और डाकू

अपने पीठ पर माल लादे दो खच्चर चले जा रहे थे। एक की पीठ पर धन से भरे हुए टोकरे और दूसरे पर अन्न से भरे बोरे लदे थे। खजाने को ढोनेवाला खच्चर मानो वह अपनी पीठ पर लदे हुए बोझ की कीमत से वाकिफ, अपना सिर ऊँचा किये हुए चल रहा था और बीच बीच में गरदन को हिलाकर उसमें बँधी घण्टी को बजा देता था। परन्तु उसका साथी सहज तथा नि:शब्द कदमों के साथ चल रहा था।

डाकुओं की एक टोली सहसा अपने छिपने के स्थान से निकलकर उन पर झपट पड़ी और मालिकों के साथ मारपीट में खजाने को ढोनेवाले खच्चर पर भी तलवार की एक चोट पड़ी। उन लोगों ने लोभपूर्वक उसे लूट लिया, पर अनाज की ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया। लुटा और घायल हुआ खच्चर अपने भाग्य का रोना रोने लगा। इस पर दूसरा खच्चर बोला, "मुझे बड़ी खुशी है कि मैं छोटा समझा गया, क्योंकि मैंने कुछ नहीं खोया और न ही मुझे चोट सहनी पड़ी।"

धन-वैभव के साथ विपत्तियाँ भी लगी रहती है।

सिंह और रेती

एक सिंह एक लोहार की कार्यशाला में घुसकर वहाँ बिखरे औजारों से अपनी भूख मिटाने का उपाय खोजने लगा। उसने विशेषकर वहाँ पड़ी रेती को सम्बोधित करते हुए भोजन कराने को कहा। रेती ने कहा, "यदि तुम मुझसे कुछ पाने की आशा रखते हो, तो जरूर ही बड़े भोलेभाले हो; क्योंकि मैं सबसे कुछ लेने की ही अभ्यस्त हूँ, किसी को कुछ देने की नहीं।"

हर किसी से अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए।

सिंह और गड़ेरिया

जंगल में घूमते हुए एक सिंह ने अनजाने में एक काँटे पर पाँव रख दिया। शीघ्र ही उसे एक गड़ेरिया मिला। उसे देखकर सिंह उसे खुश करने के लिए अपनी पूँछ हिलाने लगा। मानो वह यह बताना चाहता था, "मैं तुम्हारी शरणागत हूँ और तुम्हारी सहायता चाहता हूँ। गड़ेरिये ने साहसपूर्वक सिंह के पाँवों की जाँच की। उसमें काँटा चुभा देख उसने पंजे को अपनी गोद में रखकर काँटे को खींचकर निकाल दिया। इस प्रकार पीड़ामुक्त होकर सिंह जंगल को लौट गया।

कुछ दिनों बाद एक झूठे मामले में फँसाकर गड़ेरिये को जेल में भेज दिया गया और उस पर लगाये गये इल्जाम के लिए उसे भूखे सिंहों के सामने डाल देने की सजा मिली। परन्तु जब सिंह के पिंजरे का द्वार खोलकर गड़ेरिये को उसमें डाल दिया गया, तो सिंह ने अपने राहत देनेवाले को पहचान लिया और उस पर आक्रमण करने के स्थान पर गड़ेरिये के पास जाकर वह उसकी गोद में अपना पाँव डालकर बैठ गया। राजा को ज्योंही इस घटना की सूचना मिली, उसने सिंह को पुन: जंगल में मुक्त कर देने का आदेश दिया और गड़ेरिये को माफी देकर वापस उसके घर भेज दिया गया।

पशु भी अपने प्रति की हुई भलाई को याद रखते हैं।

ऊँट और बृहस्पति

साँड़ के सिर पर सींग की शोभा देखकर ऊँट को ईर्ष्या हुई और वह सोचने लगा कि काश, मेरे भी सिर पर ऐसा ही भव्य सींग होता। वह देव बृहस्पति के पास गया और उनसे सींग के लिए प्रार्थना करने लगा। बृहस्पति इस बात पर नाराज हुए कि वह इतना बड़ा आकार और इतना शारीरिक बल पाकर भी सन्तुष्ट नही है तथा और भी अधिक पाने की कामना कर रहा है। उन्होंने उसे सींग देना तो दूर रहा, उसके कान का भी एक हिस्सा काट कर रख लिया।

दूसरों की चीजों को देखकर लोभ नहीं करना चाहिए।

तेंदुआ और चरवाहे

एक तेंदुआ संयोगवश एक गड्ढे में गिर पड़ा। चरवाहों ने उसे देखा और उसे असहाय देखकर कुछ ने उस पर लकड़ी के टुकड़ों या पत्थरों से प्रहार किया, परन्तु उनमें से कुछ उसकी दुरवस्था को देखकर द्रवित हो गये और उसकी भूख शान्त करने के लिए उसकी ओर कुछ भोजन डाल दिया। उन लोगों का निश्चित विश्वास था कि अगले दिन आकर वे उसे मरा हुआ पायेंगे। इस प्रकार वे बिना किसी खतरे की आशंका लिए घर लौटे। परन्तु रात में तेंदुए ने किसी प्रकार अपनी बची-खुची शक्ति एकत्र की और सहसा एक छलाँग लगाकर बाहर आ गया। इसके बाद वह तेजी से कुलाँचें भरता हुआ अपने अड्डे की ओर चला गया। कुछ दिनों बाद थोड़ा स्वस्थ हो जाने पर वह वापस आया और क्रोध में उसने अपने को कष्ट देनेवाले चरवाहों तथा उनके पशुओं को मार डाला। इसके बाद भोजन देकर उसकी प्राणरक्षा करनेवाले चरवाहों ने उसके सामने अपने पशुओं को ले जाकर समर्पित कर दिया और केवल अपनी जान बख्स देने की प्रार्थना की। तेंदुए ने उनसे कहा, "मुझे अच्छी तरह याद है कि किन लोगों ने पत्थर

आदि फेंककर मेरी जान लेने की कोशिश की थी और किन लोगों ने मुझे भोजन देकर मेरी प्राणरक्षा की। इसलिए आप लोगों को भयभीत होने की आवश्यकता नहीं। मैं केवल उन्हीं का शत्रु हूँ, जिन्होंने मुझ पर आघात किया था।''

कर्मों के फल किसी-न-किसी रूप में मिलते ही हैं, अत: कोई भी कर्म करते समय उसके फल का भी आकलन कर लेना उचित है।

गधा और घोड़ा

एक गधे को बड़ा कठोर परिश्रम करने के बाद कहीं खाने को मिलता था और उससे भी उसका पेट ठीक से नहीं भरता था, अत: एक घोड़े की बड़ी अच्छी तरह देखभाल तथा भोजन आदि की व्यवस्था होते देख गधे ने उसे उसके सौभाग्य पर बधाई दी। थोड़े दिनों बाद जब सीमा पर लड़ाई छिड़ी, तो अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित एक सैनिक उस पर सवार होकर युद्धक्षेत्र की ओर चल पड़ा। युद्ध के दौरान वह घोड़ा घायल होकर लौट आया और थोड़े दिनों बाद ही मर गया। यह सब देख गधे ने अपना विचार बदल दिया और घोड़े के भाग्य के प्रति संवेदना प्रकट करने लगा।

गरुड़ पक्षी और उसे पकड़नेवाला

एक व्यक्ति ने एक बार एक गरुड़ पक्षी को पकड़ लिया। उसने तत्काल उसके पंख काट डाले और अन्य पक्षियों के साथ उसे अपने दड़बे में डाल दिया। अपने प्रति इस व्यवहार से गरुड़ को बड़ा दु:ख हुआ। बाद में एक पड़ोसी ने उस गरुड़ को खरीद लिया और उसके पंख फिर बढ़ने को छोड़ दिये। पुन: सक्षम होते ही गरुड़ उड़ा और एक खरगोश को पकड़कर अपने हितैषी के सामने उपहार के रूप में रख दिया। इसे देख एक लोमड़ी बोली, ''इस व्यक्ति को नहीं, बल्कि अपने पुराने मालिक को खुश करने का प्रयत्न करो, ताकि वह तुम्हें दुबारा पकड़कर फिर तुम्हारे पंख न काट दे।''

सज्जन लोग अपने प्रति किये गये उपकार का बदला चुकाते हैं, जबकि दुर्जन अपने भावी स्वार्थ की सोचते हैं।

गंजा व्यक्ति और मक्खी

एक मक्खी एक गंजे आदमी के सिर पर बैठी और उसे काट लिया। नाराज होकर वह व्यक्ति उस पर जोर से प्रहार करने के प्रयास में स्वयं अपने सिर पर चोट खा बैठा। उससे बचकर मक्खी दूर जा बैठी और उसकी हँसी उड़ाते हुए कहने लगी, ''मेरे थोड़ा-सा काटने के बदले तुमने मुझे जान से मारने का प्रयास किया, परन्तु क्या हुआ? तुमने अपने जले पर नमक ही तो छिड़क लिया है?'' गंजा व्यक्ति बोला, ''मैं स्वयं को तो आसानी से क्षमा कर सकता हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि इस चोट के पीछे कोई बुरा भाव नहीं था, परन्तु हे दुष्ट मक्खी, तू जो लोगों को अकारण ही परेशान करके मजा लेती है, अत: इससे भी अधिक कष्ट उठाकर भी यदि मैं तुझे मार पाता, तो मुझे कोई खेद नहीं होता।''

युद्ध में आक्रान्ता और रक्षक दोनों को ही हानि उठानी पड़ती है।

जैतून और अंजीर के पेड़

जैतून के वृक्ष ने अंजीर के पेड़ को नीचा दिखाते हुए कहा, ''देख, मैं तो पूरे साल भर हरा-भरा बना रहता हूँ, जबकि तू हर मौसम में अपने पत्तों का रंग बदलता रहता है। कुछ दिनों बाद जाड़े का मौसम आया और हिमपात होने लगा। जैतून के पेड़ को हरा-भरा देखकर उसकी डालियों तथा पत्तियों पर बर्फ इकट्ठा हो गया और उसके भार से वे टूटकर गिरने लगे। इसके फलस्वरूप उस वृक्ष के सौन्दर्य का नाश हो गया और आखिरकार उसे अपनी जान से भी हाथ धोना पड़ा। परन्तु अंजीर का पेड़ चूँकि अपने पत्ते गिरा चुका था, बर्फ उसकी डालियों के बीच से होकर धरती पर पड़ती गई और उसे कोई हानि नहीं उठाना पड़ा।

परिस्थितियों के अनुसार अपने को ढाल लेनेवाले लोग ही इस संसार में सफलतापूर्वक जीते हैं।

गरुड़ और चील्ह

एक गरुड़ एक वृक्ष की डाली पर बैठा शोक में डूबा था। पास में बैठी एक चील्ह ने उससे पूछ ही लिया, ''आज तुम्हारे चेहरे पर मुर्दनी क्यों छाई हुई है। गरुड़ ने उत्तर दिया, ''मैं अपने योग्य एक पत्नी ढूँढ़ रहा हूँ, परन्तु कोई मिल नहीं रही है।'' चील्ह ने कहा, ''मेरे साथ जोड़ा बना लो; मैं तो तुमसे भी अधिक बलवान हूँ।'' गरुड़ ने पूछा, ''क्या तुम शिकार करके अपना पेट भर लेती हो?'' चील्ह ने उत्तर दिया, ''मै तो अक्सर ही शुतुरमुर्ग को अपने पंजों में पकड़कर ले आती हूँ।'' इन बातों से सन्तुष्ट होकर गरुड़ ने उसके साथ शादी कर ली। शादी के थोड़े दिनों बाद ही गरुड़ ने अपनी पत्नी से कहा, ''जाओ और जिस शुतुरमुर्ग के बारे में तुम बता रही थी, उसे पकड़कर ले आओ।'' चील्ह आकाश में उड़ गयी और थोड़ी देर बाद वह एक सड़ा हुआ दुर्गन्धयुक्त चूहा ले आयी। गरुड़ ने पूछा, ''क्या इसी के लिए तुमने वादा किया था?'' चील्ह ने कहा, ''मैं जानती थी कि मैं अपने वादे को पूरा नहीं कर सकूँगी, परन्तु तुम्हारे जैसे भव्य पुरुष से शादी करने के लिए कितना भी बड़ा वायदा किया जा सकता है।''

अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए लोग झूठे वादे भी किया करते हैं।

❖ (समाप्त) ❖

श्रीरामकृष्ण के देव-दर्शन

स्वामी विदेहात्मानन्द

विश्व में स्वामी विवेकानन्द के रूप में सुपरिचित होनेवाले नरेन्द्रनाथ अपनी किशोरावस्था में श्रीरामकृष्ण से मिलने जब पहली बार दक्षिणेश्वर गये, तो उन्होंने परमहंसदेव से पूछा, "महाराज, क्या आप ईश्वर में विश्वास करते हैं?" उत्तर मिला, "हाँ।" इसके बाद पूछा गया, "क्या आप उनका अस्तित्व सिद्ध करके दिखा सकते हैं?" पुनः वही उत्तर मिला, "हाँ।" नरेन्द्रनाथ का प्रश्न था, "कैसे?" उत्तर में उन्होंने कहा, "जैसे मैं तुम्हें यहाँ देख रहा हूँ, उसी प्रकार मैं ईश्वर को देखता हूँ, बल्कि उससे भी अधिक स्पष्ट रूप से।" अपने पास सत्संग के लिये आनेवाले जिज्ञासुओं और शिष्यों के समक्ष श्रीरामकृष्ण प्राय: ही अपने देव-देवियों के दर्शन तथा साकार व निराकार ईश्वर की अनुभूतियों का सविस्तार वर्णन किया करते थे। ऐसे अनेक वर्णन उनके शिष्यों द्वारा 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग' और 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' ग्रन्थों में लिपिबद्ध हुए हैं। यहाँ हम मुख्यत: इन्हीं ग्रन्थों से उनके दर्शनों के विवरण प्रस्तुत करेंगे।

काली दर्शन

वैसे तो श्रीरामकृष्ण को बचपन से ही यदा-कदा दिव्य अनुभूतियाँ होने लगी थीं, पर जब से उन्होंने कलकत्ते के पास दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर में पुजारी का कार्यभार सँभाला, तभी से उनका वास्तविक आध्यात्मिक जीवन आरम्भ हुआ। माँ काली की पूजा करते करते इन तरुण साधक के मन में जिज्ञासा हुई कि क्या देवी का सचमुच ही अस्तित्व है? इस प्रश्न का उत्तर पाने को जिस प्रकार वे व्याकुल हुए और जैसा समाधान उन्हें मिला, उसका विवरण उन्हीं के शब्दों में –

"माँ का दर्शन न मिलने से उस समय मेरे हृदय में असह्य पीड़ा हो रही थी। जिस प्रकार अँगोछे को सुखाने के लिये लोग उसे बलपूर्वक निचोड़ते हैं, लग रहा था कि मानो कोई मेरे हृदय को भी पकड़कर वैसे ही निचोड़ रहा हो। यह सोचकर कि माँ का दर्शन सम्भवत. मुझे कभी प्राप्त नहीं होगा, मैं वेदना से तड़पने लगा। व्याकुल होकर मैं सोचने लगा कि इस जीवन से क्या लाभ? तभी सहसा मेरी दृष्टि माँ के मन्दिर में रखी हुई तलवार पर जा टिकी। तत्काल अपने जीवन को समाप्त कर लेने की भावना से, उन्मत्त की तरह दौड़ते हुए वहाँ जाकर मैंने उसे पकड़ा ही था कि तभी सहसा मुझे माँ का अद्भुत दर्शन मिला तथा मैं बेसुध होकर गिर पड़ा। घर, द्वार, मन्दिर – सब न जाने कहाँ विलुप्त हो गये – मानो कहीं कुछ भी न था! मुझे एक अनन्त, असीम, चेतन ज्योति:समुद्र दिखायी देने लगा! जिधर जहाँ तक मैं देखता उधर ही चारों ओर से गरजती हुई उसकी उज्ज्वल तरंगें मुझे लीलने के लिए बड़े तीव्र वेग से बढ़ी आ रही थीं। देखते-ही-देखते वे मेरे ऊपर आ गिरीं और मुझे एकदम ही न जाने कहाँ डुबो दिया। तदनन्तर क्या हुआ, किस तरह वह दिन तथा दूसरे दिन व्यतीत हुए, मुझे इसका कुछ भी पता नहीं है। किन्तु मेरे हृदय में एक अपूर्व घनीभूत आनन्द का श्रोत प्रवाहित हो रहा था और मैंने माँ के साक्षात् प्रकाश की उपलब्धि की थी।"

उस समय सम्भवत: उन्हें काली के साकार रूप का दर्शन हुआ था, क्योंकि बाह्य चेतना लौटने पर वे कातर कण्ठ से 'माँ' 'माँ' शब्द का उच्चारण कर रहे थे। बाद में तो उन्हें माँ की मूर्ति के प्राय: ही दर्शन हुआ करते थे। उपरोक्त प्रथम दर्शन के बाद उनकी व्याकुलता और भी बढ़ गई। कभी कभी तो वे माँ से दर्शन की याचना करते हुए रोने और धरती पर गिरकर छटपटाने लगते। उस समय उन्हें देखने को अनेक लोगों की भीड़ एकत्र हो जाती। वे कहते हैं – "चारों ओर लोगों के खड़े रहने पर भी वे छाया अथवा चित्रांकित मूर्ति की भाँति काल्पनिक प्रतीत होते थे, इसीलिये मेरे मन में जरा भी लज्जा या संकोच उत्पन्न नहीं होता था। उस असहनीय पीड़ा से कभी कभी मैं बेसुध हो जाता था और उसके बाद ही मुझे माँ की वराभयकरा मूर्ति का दर्शन होता था और मैं देखता कि वह मूर्ति हँस रही है, बातें कर रही है और तरह तरह से मुझे सांत्वना तथा शिक्षा प्रदान कर रही है।"

अब से उन्हें मन्दिर के अन्दर पाषाण-विग्रह के स्थान पर सजीव चिन्मय मूर्ति के दर्शन हुआ करते थे। उन्होंने बताया था – "नाक पर हाथ रखकर मैंने देखा है कि माँ वास्तव में श्वास ले रही हैं। रात में दीपक के प्रकाश में अच्छी तरह देखने पर भी मुझे कभी मन्दिर में कहीं भी माँ के दिव्य अंग की छाया नहीं दिखाई दी। अपनी कोठरी में बैठकर मैं सुना करता था कि माँ पैजन पहने बालिका की तरह आनन्दित हो झुनझुन शब्द करती हुई मन्दिर के ऊपर की मंजिल पर चढ़

रही हैं। शीघ्रता से कोठी के बाहर निकलकर मैंने देखा है कि सचमुच माँ दुमंजिले के बरामदे पर बिखरे केश खड़ी होकर कभी कलकत्ते का तो कभी गंगाजी का दर्शन कर रही है।''

तंत्र-साधना के दिनों में

इसके उपरान्त उन्होंने भैरवी ब्राह्मणी के निर्देशन में तन्त्र की साधना की। उन दिनों वे बिल्व-वृक्ष के नीचे पूजन और जप करने के पश्चात् समाधिस्थ हो जाते और तब उन्हें विविध प्रकार के असंख्य दिव्य-दर्शन व आध्यात्मिक अनुभव हुआ करते थे। इसी काल में उन्हें द्विभुज से लेकर दशभुज तक अनेक देवी-देवताओं के दर्शन हुए। वे सभी मूर्तियाँ अपूर्व सौन्दर्यमयी थीं, परन्तु उनमें सुन्दरतम राजराजेश्वरी षोड़शी के बारे में उन्होंने बताया था – ''षोड़शी या त्रिपुरा मूर्ति का सौन्दर्य मुझे ऐसा अद्‌भुत दीख पड़ा कि उससे रूप-लावण्य मानो सचमुच ही टपक रहा हो और चारों दिशाओं में फैल रहा हो।'' इन्हीं दिनों उन्हें प्राप्त हुआ एक अन्य दर्शन भी विशेष उल्लेखनीय है, जिसमें उन्हें एक बृहदाकार ज्योतिर्मय सजीव त्रिकोण दीख पड़ता था। इस चमकते हुए त्रिकोण को उन्होंने ब्रह्मयोनि बताया और उन्होंने देखा था कि इस ब्रह्मयोनि से प्रतिक्षण असंख्य ब्रह्माण्डों की सृष्टि हो रही है।

श्रीराम-जानकी के दर्शन

१८६४ ई. के लगभग 'जटाधारी' नाम के एक रामभक्त साधु दक्षिणेश्वर पधारे। उनके पास श्रीरामचन्द्र की एक बालमूर्ति थी, जिसे वे स्नेहपूर्वक 'रामलला' कहते थे। उनके बारे में श्रीरामकृष्ण ने स्वयं ही जो कुछ कहा था, वह इस प्रकार है – ''बाबाजी उस मूर्ति की सदा से सेवा किया करते थे। रामलला सचमुच भोजन कर रहा है या कोई वस्तु खाने के लिये माँग रहा है, टहलने जाना चाहता है या प्रेमपूर्वक हठ कर रहा है आदि उन्हें प्रत्यक्ष दिखाई देता था और उस मूर्ति को लेकर वे सदा आनन्दविह्वल तथा मस्त रहा करते थे। मुझे भी रामलला के इस तरह के कृत्य दृष्टिगोचर होते थे तथा प्रतिदिन चौबीस घण्टे उन साधु के समीप बैठा बैठा मैं रामलला को देखा करता था। ज्यों ज्यों दिन बीतने लगे, त्यों त्यों रामलला का भी मेरे प्रति प्रेम बढ़ने लगा। ... जैसे तुम लोगों को देख रहा हूँ, रामलला को भी मैं ठीक ऐसे ही देखा करता था; मुझे सचमुच ही दिखाई देता था कि कभी वह मेरे आगे आगे, कभी पीछे पीछे नाचता हुआ मेरे साथ चला आ रहा है; कभी मेरी गोदी में चढ़ने के लिये हठ कर रहा है। फिर, जब मैं उसे गोद में लिये रहता था, तो कभी कभी वह किसी भी तरह गोद में नहीं रहना चाहता था, गोद से उतरकर धूप में दौड़ना, काँटेदार झाड़ियो में जाकर फूल तोड़ना या गंगाजी मे उतरकर उछल-कूद मचाना चाहता था। मैं उसे मना करता था, 'अरे, ऐसा मत कर, धूप में पैर जलेंगे। जल में मत कूद सर्दी हो जायेगी, बुखार आ जायेगा।' पर उन बातों को वह कब सुनने लगा? मानो कोई और किसी से कह रहा हो! कभी वह कमल जैसे सुन्दर नेत्रों से मेरी ओर देखकर मुस्कुराता हुआ और अधिक उधम मचाने लगता था। अथवा दोनो ओठों को फुलाकर मुँह बनाकर मेरे साथ उपहास करने लगता था। तब मैं सचमुच ही क्रोधित होकर कह उठता था, 'अच्छा पाजी, ठहर जा, आज मैं तेरी हड्डियाँ तोड दूँगा!' – इतना कहकर धूप तथा पानी से मैं उसे बलपूर्वक खींच लाता और उसे कुछ-न-कुछ देकर तथा भुलावा दे कमरे के अन्दर खेलने को कहा करता था। पुन: जब मैं कभी यह देखता कि वह उधम मचाने से किसी भी तरह बाज नहीं आ रहा है, तब मैं दो-एक धौल-धप्पड़ भी जमा देता था। मार खाकर अपने दोनों सुन्दर होठों को फुलाकर अपने सजल नेत्र से वह मेरी ओर देखता। तब मेरे मन में बड़ा कष्ट होता और मैं उसे गोद में लेकर स्नेहपूर्वक शान्त किया करता था। ठीक ठीक मैं ऐसा ही किया करता था तथा उसके साथ इस तरह के आचरण किया करता था।'' रामलला के साथ उनकी अनेक लीलाएँ हुई थीं, पर यहाँ पर अधिक विस्तार में जाना सम्भव नही है।

फिर इन दिना वे अपने पर हनुमानजी के भाव का आरोप कर श्रीरामचन्द्र को पुकारते और उन्ही के ध्यान में डूबे रहते थे, उन्हे एक अद्‌भुत दर्शन हुआ था। इसका वर्णन करते हुए उन्होंने कहा था – ''उस समय एक दिन मैं पंचवटी के नीचे बैठकर ध्यान चिन्तनादि कुछ नहीं कर रहा था, ऐसे ही बैठा था। उसी समय एक अनुपम ज्योतिर्मयी स्त्रीमूर्ति मेरे समीप आविर्भूत हुई और वह स्थान आलोकित हो उठा। तब मुझे केवल वह मूर्ति ही दृष्टिगोचर नहीं हो रही थी, अपितु पंचवटी की वृक्ष-लताएँ तथा गंगाजी आदि सभी कुछ दिखाई दे रहा था। मैंने देखा कि वह मूर्ति मानवी है, क्योकि देवियों की तरह वह त्रिनेत्रयुक्त नही है, किन्तु प्रेम, दुःख, करुणा तथा सहिष्णुतापूर्ण, वैसे मुखमण्डल के समान अपूर्व ओजस्वी गम्भीर भाव प्राय: देवमूर्तियों में भी देखने को नहीं मिलता है! प्रसन्न दृष्टि से मुग्ध करती हुई वे देव-मानवी धीरे धीरे उत्तर से दक्षिण – मेरी ओर आ रही थीं! स्तम्भित होकर मैं सोचने लगा, 'ये कौन हैं?' – ठीक तभी एक बड़ा भारी बन्दर कही से 'हुप! हुप!' करता हुआ वहाँ आकर उनके चरणों में गिर पड़ा; यह देखकर मेरा मन भीतर से कह उठा, 'सीता, जन्म-दुःखिनी सीता, जनकराजनन्दिनी सीता, राममयजीविता सीता!' तब 'माँ', 'माँ' कहकर अधीर हो मै उनके चरणो मे लोट ही रहा था कि तत्काल वे बड़ी तेजी से आगे बढ़कर (अपने शरीर को दिखाते हुए) इसमें प्रविष्ट हो गयी। – आनन्द तथा विस्मय से मैं विह्वल हो उठा तथा अचेत होकर गिर पड़ा।''

एक अन्य अवसर पर उन्होने इसी घटना का वर्णन करते हुए कहा था, "मैंने सीतामूर्ति के दर्शन किये थे। देखा, सब मन राम में ही लगा हुआ है। हाथ, पैर, कपड़े-लत्ते किसी पर भी दृष्टि नहीं है। मानो जीवन ही राममय है – राम के बिना रहे, राम को बिना पाये, जीवित नहीं रह सकती।"

फिर एक दिन उन्होंने बकुल वृक्ष के नीचे देखा कि नीले वस्त्र पहने एक स्त्री खड़ी है। उनके मन में एकाएक सीता की उद्दीपना हो आयी। वे कहते हैं – "उस स्त्री को बिल्कुल भूल गया और देखा साक्षात् सीतादेवी लंका से उद्धार पाकर राम के पास जा रही हैं। बहुत देर तक बाह्य-संज्ञाहीन हो समाधि अवस्था में रहा।"

एक दिन तोतापुरी और हलधारी काली मन्दिर में अध्यात्म रामायण पढ़ रहे थे। पाठ सुनते सुनते श्रीरामकृष्ण ने सहसा एक नदी देखी. उसके पास ही वन था, हरे रंग के पेड़-पौधे थे और जाँघिया पहने राम और लक्ष्मण चले जा रहे थे।

श्रीराधा और श्रीकृष्ण के दर्शन

इसके बाद इनके मन में मधुर भाव की साधना करने की इच्छा हुई। श्रीराधारानी की कृपा हुए बिना श्रीकृष्ण के दर्शन नहीं मिल सकते, यह सोचकर वे उन्हीं की उपासना, प्रार्थना आदि में लग गये। शीघ्र ही श्रीराधा उन्हें दर्शन देकर उन्हीं के शरीर मे विलीन हो गयीं। इस प्रसंग में उन्होंने बताया था – "श्रीकृष्ण में सर्वस्व विसर्जित करनेवाली निरुपम पवित्रोज्ज्वल मूर्नि की महिमा तथा मधुरिमा का वर्णन करना असम्भव है। श्रीराधारानी की अंगकान्ति को मैंने 'नागकेशर' पुष्प के केसरों की भाँति गौरवर्ण देखा था।"

श्रीराधाजी का दर्शन तथा उनके साथ एकात्मबोध का अनुभव होने के बाद से श्रीकृष्ण के विरह में उनके अन्तर में इतनी तीव्र वेदना होती थी कि उनके शरीर के रोमकूपों से रक्त की बूँदें टपकने लगतीं, देह की ग्रन्थियाँ शिथिल हो जातीं और इन्द्रियाँ भी अपने कार्य से विरत हो जाती थीं। इसके फलस्वरूप वे बहुधा मृतप्राय निश्चेष्ट और संज्ञाशून्य होकर पड़े रहते थे। इस नारी-भाव में प्रतिष्ठित होकर पति-भाव से श्रीकृष्ण के प्रति विशुद्ध प्रेम के घनीभूत होने पर उन्हें राधावल्लभ का दर्शन मिला। उन दिनों वे श्रीकृष्ण का दर्शन पाकर कभी तो आब्रह्मस्तम्भपर्यन्त सभी को श्रीकृष्ण-विग्रह के रूप में देखते और कभी स्वयं को ही श्रीकृष्ण के रूप मे अनुभव करते। परवर्ती काल मे एक दिन वे एक घास का फूल तोड़कर अपने युवा शिष्यों के पास लाये और बड़े आनन्दपूर्वक उसे दिखाते हुए बोले – "उस समय मुझे प्राय: ही श्रीकृष्ण का दर्शन होता था, उनके शरीर का रंग इस फूल के रंग के समान था।"

एक दिन वे वहीं श्रीराधाकान्त देव के मन्दिर के बरामदे में बैठे भागवत सुन रहे थे। सुनते सुनते भावाविष्ट होकर उन्होंने श्रीकृष्ण की ज्योतिर्मय मूर्ति का दर्शन किया। बाद में उन्होंने देखा कि उस मूर्ति के पाद-पद्मों से रस्सी की तरह एक ज्योति निकलकर सर्वप्रथम उसने भागवत को स्पर्श किया एवं तदुपरान्त उनके वक्षस्थल से लगकर उन तीनों वस्तुओं को कुछ देर तक उसने एक साथ संयुक्त रखा। श्रीरामकृष्ण कहते थे कि इस दर्शन से उनके मन में ऐसी दृढ़ धारणा हो गयी कि भागवत, भक्त और भगवान – ये तीनों भिन्न रूप में प्रकट रहते हुए भी एक ही हैं अथवा एक ही पदार्थ के तीन रूप हैं। दक्षिणेश्वर के ही एक अन्य दर्शन के बारे में उन्होंने बताया था – "एक दिन मैंने कोठी के सामने अर्जुन का रथ देखा था। सारथी के वेश में श्रीकृष्ण बैठे हुए थे। वह अब भी मुझे याद है।"

श्रीकृष्ण-दर्शन के उनके कुछ अन्य वर्णन इस प्रकार हैं – "शिहड़ गाँव में चरवाहों को भोजन करवाया। सबके हाथ में मैंने जलपान की सामग्री दी। देखा, साक्षात् व्रज के ग्वालबाल ! उनसे जलपान लेकर मैं भी खाने लगा। ... श्यामबाजार में नटवर गोस्वामी के मकान पर कीर्तन हो रहा था। श्रीकृष्ण और गोपियों का दर्शन कर मैं समाधिमग्न हो गया। ऐसा लगा कि मेरा सूक्ष्म शरीर श्रीकृष्ण के पैरों के पीछे पीछे जा रहा है। ... और एक दिन कलकत्ते मे किले के मैदान में घूमने के लिये गया था। उस दिन 'बैलून' उड़नेवाला था। बहुत-से लोगों की भीड़ जमा थी। अचानक एक अँग्रेज बालक की आर मेरी दृष्टि गयी, वह पेड़ के सहारे त्रिभंग होकर खड़ा था। देखते ही श्रीकृष्ण की उद्दीपना हो समाधि लग गयी।'

इसके बाद जब वे तीर्थयात्रा के निमित्त वृन्दावन गये तो वहाँ उन्हें श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का दर्शन हुआ। वहाँ बाँकेबिहारी का दर्शन करके उनमें अद्भुत भावावेश का उदय हुआ था, आत्मविस्मृत होकर वे उनका आलिंगन करने को दौड़े थे। उन्हीं के शब्दों में – "ज्योंही मैंने मथुरा का ध्रुवघाट देखा, त्योंही दर्शन हुआ – वसुदेव श्रीकृष्ण को गोद में लेकर यमुना पार कर रहे थे। फिर शाम को यमुना के तट पर टहल रहा था। बालू पर छोटे छोटे झोपड़े थे, बेर के पेड़ बहुत थे। गोधूलि का समय था, गौएँ चारागाह से लौट रही थीं। देखा, उतरकर यमुना पार कर रही हैं। इसके बाद कुछ चरवाहे गौओं को लेकर पार होने लगे। ज्योंही यह देखा कि 'कृष्ण कहाँ हो?' कहकर बेहोश हो गया।" उस समय उन्हें नवीन-नीरद मयूरपंखधारी गोपाल का दर्शन मिला था। वे व्रजमण्डल के निधुवन, गोवर्धन, श्यामकुण्ड, राधाकुण्ड आदि स्थानों का दर्शन करने भी गये थे। ये स्थल उन्हें वृन्दावन से भी अधिक प्रिय लगे थे और व्रजेश्वरी राधा एवं श्रीकृष्ण के विभिन्न रूपों का दर्शन प्राप्त कर उन स्थानों में उनके हृदय में विशेष प्रेम का उद्रेक हुआ था। वहाँ की महान् साधिका गंगाबाई निधुवन के भाव और अवस्थाएँ देखकर मुग्ध भाव से कहतीं, 'ये साक्षात् राधिका हैं – शरीर धारण करके आयी हैं !'

चैतन्य महाप्रभु का दर्शन

दक्षिणेश्वर निवास के दौरान ही एक बार श्रीरामकृष्ण को श्री चैतन्यदेव का संकीर्तन दल दीख पड़ा था। इस दर्शन में अपने कमरे के बाहर खड़े होकर उन्होंने देखा कि वह अद्भुत संकीर्तन-तरंग पंचवटी की ओर से उन्हीं की ओर बढ़ती चली आ रही है और बगीचे के फाटक तक प्रवाहित हुई वृक्षों की आड़ में लीन होती जा रही है; उन्होंने देखा कि श्री नित्यानन्द और श्री अद्वैतप्रभु को साथ लिए नवद्वीपचन्द्र श्री चैतन्यदेव ईश्वर-प्रेम में तन्मय हो उस जनसमूह के साथ धीरे धीरे अग्रसर हो रहे हैं तथा उनके चारों ओर के सभी लोग उनके प्रेम में तन्मय होकर कोई संज्ञाहीन और कोई उद्दाम ताण्डव करते हुए अपने हृदय का उल्लास प्रकट कर रहे हैं। इतनी जनता एकत्रित हुई है, जिसकी कोई सीमा नहीं। इसके अतिरिक्त और भी कई बार श्रीरामकृष्ण को गौरांग महाप्रभु के दर्शन प्राप्त होने के उल्लेख मिलते हैं।

बाद में जब वे चैतन्यदेव की जन्मभूमि नवद्वीप की यात्रा पर गये, तो उन्हें विश्वास था कि यदि ईश्वर ने श्रीचैतन्य के रूप में धरती पर लीला की होगी, तो वहाँ पर उनके भाव का थोड़ा-बहुत प्रकाश तो अवश्य ही अब भी विद्यमान होगा। विभिन्न मन्दिरों और गोस्वामी लोगों के घर जाने पर भी जब उन्हें कोई अनुभूति नहीं हुई तो वे निराश होने लगे। उन्होंने बताया था – "सोचने लगा, व्यर्थ में ही मैं यहाँ आया। फिर जब मैं लौटने के लिये नाव पर सवार हुआ, तभी मुझे एक अद्भुत दर्शन प्राप्त हुआ। दो सुन्दर बालक – ऐसा रूप मैंने कभी नहीं देखा था – तप्तकांचन जैसा वर्ण, किशोरावस्था, मस्तक के चारों ओर एक ज्योतिर्मण्डल, अपने हाथों को उठाकर मेरी ओर देख हँसते हुए आकाश-मार्ग से दौड़े चले आ रहे हैं। तत्काल ही 'वह देखो, आ रहे हैं' कहकर मैं चिल्ला उठा। मेरे यह कहते ही वे दोनों मेरे समीप आकर (अपने शरीर को दिखाते हुए) इसके अन्दर प्रविष्ट हो गये और बाह्य चेतनारहित हो गिर पड़ा। मैं तो जल में ही गिर जाता, परन्तु हृदय मेरे निकट था, उसने मुझे पकड़ लिया। इसी तरह बहुत-कुछ दिखाकर उन्होंने मुझे समझा दिया कि वास्तव में ही वे अवतार हैं, उनके भीतर ईश्वरीय शक्ति का विकास है।" श्रीरामकृष्ण ने बाद में अपने संगियों को बताया कि चैतन्यदेव का वास्तविक जन्मस्थान नदी के गर्भ में समा चुका है, इसीलिये उन्हें प्राचीन नगरी के वास्तविक स्थल रूप उस बालुकामय तट पर ही दर्शन प्राप्त हुआ।

स्वर्णमयी काशी और शिव-शक्ति का दर्शन

अपनी तीर्थयात्रा के दौरान वाराणसी में प्रवेश करते समय ही श्रीरामकृष्ण को अपने भावनेत्रों से दृष्टिगोचर होने लगा कि शिवपुरी वस्तुत: स्वर्णनिर्मित है और वहाँ मिट्टी, पत्थर आदि का नामो-निशान तक नहीं। अनादि काल से अवतारों, ऋषियो और साधु-सन्तों के स्वर्णसम समुज्ज्वल महान् हृदयो की भावराशि ही क्रमश: एकत्र एवं घनीभूत होकर ही काशीपुरी के रूप में विद्यमान है। उन्हें ऐसा बोध हुआ कि वह भावघन ज्योतिर्मय रूप ही वहाँ का नित्य स्वरूप है और बाहर से जो कुछ दिख पड़ता है, वह उसकी छाया मात्र है। वाराणसी को स्वर्णमयी देखकर और इस भय से कि कहीं वह अपवित्र न हो जाय, बालस्वभाव श्रीरामकृष्ण को कई दिनों तक शौचादि कराने पंचक्रोशी काशी से बाहर ले जाना पड़ता था।

इसके बाद वे लोग नाव में बाहर बैठकर पंचतीर्थों का दर्शन करने गये। जब उनकी नाव मणिकर्णिका घाट के सामने पहुँची, तो उस समय वहाँ शव-दाह चल रहा था और महाश्मशान चिताधूम से परिपूर्ण था। घाट की ओर दृष्टि पड़ते ही भावमय श्रीरामकृष्ण आनन्द से उत्फुल्ल हो उठे, रोमांचित होकर वे नाव के किनारे की ओर दौड़े और वहीं समाधिस्थ हो गये। उस समय हुए अद्भुत दर्शन का वर्णन करते हुए उन्होंने बाद में बताया था – "मैंने देखा कि पिंगल-वर्ण जटाजूटधारी दीर्घाकार एक श्वेतवर्ण पुरुष धीरे धीरे श्मशान की हर चिता के समीप आ रहे हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति को यत्नपूर्वक उठाकर उसके कान में तारकब्रह्म मन्त्र प्रदान कर रहे हैं! – सर्वशक्तिमयी जगदम्बा भी स्वयं महाकाली रूप में उस चिता पर जीव के दूसरी ओर बैठकर उसके स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि सब प्रकार के बन्धनों को खोल दे रही हैं तथा निर्वाण के द्वार को उन्मुक्त कर अपने हाथ से उसे अखण्ड के घर पर भेज रही हैं। इस प्रकार अनेक कल्प के तपस्यादि के द्वारा जीव को जिस अद्वैतानुभवजनित भूमानन्द की प्राप्ति होती है, विश्वनाथ तत्काल ही उसे वह वस्तु प्रदान कर कृतार्थ कर रहे हैं।" काशी में ही उन्हें सोने की अन्नपूर्णा के दर्शन हुए थे।

इनके अलावा भी उन्हें अनेक देवी-देवताओं और अवतारों के दर्शन मिले थे। इन विवरणों के अनुशीलन से बोध होता है कि देवी-देवताओं का दर्शन पाकर ही ऋषि-मुनियों व सन्तों ने शास्त्रों में उनका वर्णन किया है और वे कल्पनाप्रसूत नहीं हैं। प्राचीन काल से चले आ रहे अतीन्द्रिय तत्त्वो में हमारी श्रद्धा को श्रीरामकृष्ण के ये दर्शन और सुदृढ़ बनाते हैं। ❑❑❑

गीता की शक्ति और मोहकता (२)

स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज (परमाध्यक्ष, रामकृष्ण मठ तथा मिशन)

(अद्वैत आश्रम, मायावती से प्रकाशित होनेवाली प्रस्तुत लेखमाला के दो भाग हैं – 'गीता-अध्ययन की भूमिका' जीवन के विभिन्न प्रकार के कार्यों में व्यस्त जगत् के विचारशील लोगों का गीता से परिचय कराने हेतु है और दूसरा भाग 'गीता की शक्ति तथा मोहकता' इस महान् ग्रन्थ पर दिये गये एक उद्बोधक व्याख्यान का अनुलिखन है। इन अंग्रेजी व्याख्यानों का हिन्दी अनुवाद हम क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

गीता के ध्यान-श्लोक

गीता अत्यन्त सरल है और इसके अनेक विचार बाकी महाभारत में भी यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। दो-तीन वर्ष पूर्व जब शान्ति-पर्व पर व्याख्यान चल रहे थे, तब आप लोगों ने देखा होगा कि कितने ही विचार शान्ति-पर्व तथा गीता दोनों में ही समान रूप से मिलते है। यह विकास वैदिक काल के बाद हुआ; यह मानवीय समस्याओं के सन्दर्भ में उपनिषदों के दर्शन की व्यावहारिक उपयोगिता विकसित करने की चेष्टा है। इसी हेतु ये महान् आचार्य श्रीकृष्ण आये, जो स्वयं भी बड़े व्यावहारिक थे। उन्होंने तीव्र कर्मठता का जीवन बिताया, वे एक सार्वभौमिक हृदय तथा मनोवृत्ति से सम्पन्न थे और भगवद्गीता के माध्यम से उन्होंने वेदान्त दर्शन को व्यावहारिक रूप दिया। इसके १८ अध्यायों में सुन्दर विचारों से परिपूर्ण कुल ७०० श्लोक हैं, जो हमारे आज के युग के लिए अति प्रासंगिक हैं। यह आपको कुछ ऐसे सिद्धान्त या मतवाद नहीं देती, जिन पर प्रश्न उठाना निषिद्ध हो। यह सभी को अपनी शिक्षाओं के विषय में पहले प्रश्न उठाने और उसके बाद ही अनुसरण करने का आमंत्रण देती है। श्रीकृष्ण कर्म में लगे रहनेवाले सभी लोगों के समक्ष अपना मौलिक जीवन-दर्शन रखते हैं।

सामान्यत: गीता का अध्ययन आरम्भ करने के पूर्व हम उसके नौ ध्यान-श्लोकों का अध्ययन करते हैं। वे सम्पूर्ण भारत में और अब अन्य देशों में भी लोकप्रिय हैं। हमें पता नहीं कि किसने उनकी रचना की। कुछ लोगों का विश्वास है कि तीन या चार शताब्दियों पूर्व जन्म लेनेवाले गीता तथा श्रीमद्-भागवतम् के टीकाकार श्रीधर स्वामी ने इनकी रचना की थी। गीता-ध्यान-श्लोकों में गीता, महाभारत के रचयिता वेदव्यास और श्रीकृष्ण का उल्लेख है।

आज मैं आप लोगों के साथ उन अद्भुत श्लोकों का पाठ करूँगा और मूल श्लोकों के तात्पर्य भी बताऊँगा। वे गीता-विषयक एक वक्तव्य के साथ आरम्भ होते हैं –

ॐ पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराण-मुनिना मध्ये महाभारतम्।
अद्वैतामृत-वर्षिणीं भगवतीं अष्टादशाध्यायिनीं
अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।।१।।

– "ॐ! जिनके माध्यम से स्वयं भगवान नारायण द्वारा अर्जुन को ज्ञान कराया गया था; जिन्हें प्राचीन मुनि व्यास द्वारा महाभारत में संकलित किया गया था; हे अद्वैत का अमृत बरसानेवाली, पुनर्जन्म को दूर करनेवाली, अठारह अध्यायों-वाली, हे भगवती गीते ! मैं तुम्हारा सतत ध्यान करता हूँ।"

यह पहला श्लोक गीता माता को सम्बोधित किया गया है। महात्मा गांधी कहते हैं, "गीता मेरी माता है। बचपन में ही मैं अपनी माँ को खो बैठा, परन्तु मैंने कभी माँ के अभाव का बोध नहीं किया, क्योंकि गीता मेरे पास थी।" दूसरा श्लोक इस प्रकार है –

नमोऽस्तु ते व्यास विशाल-बुद्धेः
फुल्लारविन्दायत-पत्र-नेत्र।
येन त्वया भारत-तैल-पूर्णः
प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ।।२।।

– "विशाल बुद्धि तथा खिले हुए कमल की पंखुड़ियों के समान नेत्रोंवाले हे व्यासदेव, आपको प्रणाम है! आपके द्वारा महाभारत-रूपी तेल से पूर्ण करके यह ज्ञानदीप प्रज्वलित किया गया।"

प्रपन्न-पारिजाताय तोत्र-वेत्रैक-पाणये;
ज्ञान-मुद्राय कृष्णाय गीतामृत-दुहे नमः ।।

– "मैं उन श्रीकृष्ण को प्रणाम करता हूँ, जो अपने में शरण लेनेवालों की कामना पूर्ण करते हैं, जो गीता रूपी अमृत का दोहन करनेवाले हैं और जिनके एक हाथ में गायों को हाँकने की लाठी है और जिनका (दाहिना हाथ) ज्ञानमुद्रा में स्थित है।"

ज्ञान-मुद्रा का महत्त्व

उपरोक्त श्लोक में दाहिने हाथ में ज्ञानमुद्रा से युक्त श्रीकृष्ण का वर्णन किया गया है। हमारे वेदान्त-दर्शन तथा अध्यात्म में यह एक अद्भुत धारणा है। इस धारणा के अनुसार इस ज्ञानमुद्रा का एक बड़ा गहरा तात्पर्य है; जिसमें (दाहिने हाथ के) अँगूठे को तर्जनी से जोड़कर बाकी तीन उँगलियों को फैला दिया जाता है। हमारी शारीरिक मुद्राओं की मानसिक प्रतिच्छाया भी होती है और जैसा मन है, वैसा ही शरीर भी होता है। आप एक विशिष्ट प्रकार से लेटे हुए हैं और वह

आपकी एक विशिष्ट मानसिक अवस्था का परिचायक है। यदि आप एक विशिष्ट प्रकार से बैठते हैं, तो आप देखेंगे कि आपका मन भी उस विशेष मुद्रा का अनुसरण कर रहा है। मान लीजिए कि कोई व्यक्ति बैठने की अवस्था में सर्वदा अपने पाँव हिलाया करता है, तो यह उसकी बिखरी हुई मानसिक अवस्था का द्योतक है। इन सभी मामलों में शरीर मन के प्रभाव को व्यक्त करता है। अत: इस दृष्टिकोण से ज्ञानमुद्रा एक गम्भीर मानसिक अभिव्यक्ति का एक विलक्षण प्रतीक है। जैसा कि नाम से ही प्रकट होता है, यह मुद्रा साधारण या लौकिक ज्ञान से लेकर सर्वोच्च आध्यात्मिक ज्ञान तक, हर प्रकार के ज्ञान की द्योतक है। भारतवर्ष में हम लोगों ने कभी लौकिक व आध्यात्मिक ज्ञान के बीच ज्यादा भेद नहीं किया। हमारे लिए तो सभी ज्ञान ही पवित्र हैं। स्मरण रहे कि एकमात्र देवी सरस्वती ही सभी प्रकार के ज्ञानों तथा कलाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। सम्पूर्ण ज्ञान की एकता हमारी भारतीय परम्परा का एक गहन भाव है। अध्ययन के लिए हम ज्ञान के अनेक विभाग कर सकते हैं, परन्तु हमें ज्ञान की अखण्डता को भंग नहीं करना चाहिए। भारत में हमारी ऐसी ही शिक्षा है। अत: हमारे देश में ऐसी धारणा है कि प्राप्त करने योग्य वस्तुओं में ज्ञान ही सबसे महान् है – **विद्याधनं सर्वधन-प्रधानम्** – सभी प्रकार के धनों में ज्ञान रूपी धन ही सर्वश्रेष्ठ है। गीता (४/३८) का कहना है कि दुनिया में ज्ञान से बढ़कर पवित्र करनेवाला अन्य कुछ भी नहीं है – **नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रम् इह विद्यते**। हमारे एक विश्वविद्यालय – मैसूर विश्वविद्यालय का यही बोधवाक्य है।

मनुष्य इसलिए मनुष्य है, क्योंकि उसमें ज्ञान का शोध करने की शारीरिक क्षमता विद्यमान है; कोई भी पशु ज्ञान की खोज नहीं कर सकता। पशुओं के पास सहज वृत्ति से जुड़ा केवल एक यंत्र होता है और वे पूरी तौर से आनुवंशिक तंत्र के द्वारा परिचालित होते हैं। परन्तु मनुष्य ज्ञान की दुनिया में शोध करने के मार्ग पर छोड़ दिया गया है। यह ज्ञान की दुनिया लौकिक भी हो सकती है और आध्यात्मिक भी, परन्तु भारत में हमारे लिए सारे ज्ञान पवित्र हैं। हम लौकिक से आरम्भ करके आध्यात्मिक में अपनी खोज जारी रखते हैं।

अब, इस ज्ञान की खोज को किस प्रकार एक विशेष मुद्रा के द्वारा व्यक्त किया जाय? हमारे प्राचीन ऋषियों ने इस अद्भुत मुद्रा का आविष्कार किया, जो कि सभी प्रकार के ज्ञान की खोज को व्यक्त कर सकती है और यह बड़ी असाधारण बात है। मुझे इस विषय में विस्मय हुआ करता था। बाद में, कुछ वर्षों पूर्व, जब मैंने जीवविज्ञान, न्यूरोलॉजी (स्नायु-विज्ञान) तथा उनसे सम्बन्धित विषयों का अध्ययन किया, तो मुझे एक बड़ा ही अद्भुत सत्य मिला; और वह यह था कि कोई भी जानवर, यहाँ तक की चिम्पांजी भी अपने अँगूठे को तर्जनी से नहीं लगा सकता, परन्तु केवल मनुष्य का बच्चा ही ऐसा कर सकता है। अपने हालैंड-प्रवास के दौरान मैंने चिम्पांजी के व्यवहार पर एक फिल्म देखी थी। उसमें एक चिम्पांजी ने एक वृक्ष की एक डाल को अपनी हथेली से पकड़कर अपनी सभी उँगलियों से उन्हें बन्द कर लिया था और अपने शत्रु को भगाने के लिए उसे धरती पर पटकता था। जब आप ऐसे ढंग से डाली को पकड़ेंगे, तो उस पर पकड़ बहुत कमजोर होगी और उस डाली के प्रयोग पर तब तक शक्ति नहीं लगायी जा सकती, जब तक कि अँगूठे का भलीभाँति उपयोग न किया जाय। अन्य सभी पशुओं में अँगूठा बाकी उँगलियों और विशेषकर तर्जनी के साथ सहयोग करना नहीं जानता।

परन्तु मनुष्य के स्तर तक के विकास पर पहुँचकर, मनुष्य पहली बार अँगूठे को तर्जनी उँगली के सामने स्थापित करना सीख गया। यही मानव-जाति की तकनीकी कुशलता का, यंत्रों का उपयोग करने की क्षमता का, अपने आसपास के जगत् को बदलने की क्षमता का और ज्ञान की प्राप्ति का प्रारम्भ था। मानव ने अपनी मूलभूत शारीरिक क्षमता के साथ अब ज्ञान के राज्य में प्रवेश किया। इसीलिए यह अँगूठे का तर्जनी के सामने स्थापित करना मनुष्य के परम साधारण से लेकर परम असाधारण स्तर तक के ज्ञान की खोज का प्रबल द्योतक है। मुझे यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण पूर्णत: युक्तिसंगत लगा। फिर मुझे यह भी पता चला कि अन्य उँगलियों की तुलना में इन दो उँगलियों को उपयोग करने के लिए आवश्यक मस्तिष्क के कोषों की संख्या सर्वाधिक है। यदि अँगूठे को काट दिया जाय, तो हाथ को उपयोग करने की क्षमता अपने आप ही घट जायेगी। महाभारत में हम पढ़ते है कि धनुर्विद्या के आचार्य द्रोण ने एकलव्य से अपना अँगूठा काटकर गुरुदक्षिणा के रूप में दे देने को कहा, ताकि वह उनके प्रिय शिष्य अर्जुन के साथ सफलतापूर्वक स्पर्धा न कर सके; और एकलव्य ने द्रोण के आदेश का पालन किया, क्योंकि वह उनके प्रति गुरु के समान श्रद्धा रखता था। कहते हैं कि भारत के अंग्रेज शासकों ने, महीन ढाका का मलमल बनानेवाले बुनकरों के अँगूठे काट डाले थे, ताकि वे उनके अपने लंकाशायर के बुनकरों से स्पर्धा न कर सकें।

अँगूठा और तर्जनी का सामना करने की मनुष्य की क्षमता का महत्त्व इस बात में है कि इसी से उसकी लौकिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान की ओर अग्रगति आरम्भ हुई। जहाँ तक ज्ञान का सवाल है, लौकिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान के बीच कोई भेद नहीं है; सभी ज्ञान पवित्र हैं। सरस्वती-पूजा के दिन आप देखेंगे कि ज्ञान के सारे साधन सरस्वती के सामने रख दिये जाते हैं। बचपन में मैं प्रतिवर्ष अपने घर होनेवाली सरस्वती-पूजा में भाग लेता था। मैंने देखा कि बढ़ई लोगो के

यंत्र, डॉक्टरों के चिकित्सकीय उपकरण और हर प्रकार के धर्मग्रन्थ सरस्वती के सामने रख दिये जाते थे। उन्हें 'वाणी' भी कहते हैं। वे समस्त ज्ञानों की एकता का प्रतिनिधित्व करती हैं। वे एक अद्भुत तथा सादगीपूर्ण देवी है और मानव-मन के लिए अतीव प्रेरणादायिनी हैं। जब तक हमने सच्चे भाव से सरस्वती की पूजा की, तब तक हमारा देश ज्ञान की साधना को समर्पित था। परन्तु जब हम सरस्वती को छोड़कर लक्ष्मी की ओर दौड़े, लक्ष्मी और सरस्वती – दोनों ही भारत से लुप्त हो गयी। आज हमें अपने देश में दोनों को वापस लाना है – पहले सरस्वती को और उसके बाद लक्ष्मी को। सरस्वती के फलस्वरूप ही लक्ष्मी आती हैं।

आपके पास जितना ही अधिक ज्ञान होगा, आप उतना ही धन पैदा कर सकेंगे; ज्ञान के द्वारा अनुप्राणित कुशलतापूर्ण कार्य के अतिरिक्त धन प्राप्त करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है। जादू-टोने से धन नहीं पैदा किया जा सकता। आज हमें यही पाठ सीखना है। सरस्वती प्रमुख हैं और लक्ष्मी सरस्वती की गौण उत्पाद हैं। यह ज्ञान आना चाहिए, ताकि भारत से निर्धनता को मिटाया जा सके। शुद्ध विज्ञान 'सरस्वती' हैं और प्रायोगिक विज्ञान 'लक्ष्मी' हैं। कृषि में उपयोग किया गया विज्ञान राष्ट्र की सम्पदा में सुधार लाता है; उद्योग के साथ भी यही बात है। सर्वत्र इन्हीं दो तपस्विनी देवियों का साम्राज्य है, परन्तु भारत में हमें एक बार फिर से सीखना होगा कि उनकी सच्ची पूजा कैसे की जाय। केवल उनके चित्र के सामने आरती उतारना ही उनकी पूजा-विधि नहीं है। विश्वविद्यालय में जाओ, वहाँ विभिन्न पुस्तकों का अध्ययन करो, स्वयं अपने लिए सोचो – इसी प्रकार तुम सरस्वती के छात्र बन सकते हो। फिर कठोर परिश्रम, टोली में कार्य करना, कुशलता में वृद्धि लाने का प्रयास करना – हमें इसी प्रकार लक्ष्मी की पूजा करनी होगी। साल में एक बार हम आरती जरूर कर सकते हैं, पर इस तरह के कठोर कर्म के द्वारा हमें प्रतिदिन लक्ष्मी की पूजा करनी होगी। केवल तभी हम पर लक्ष्मी की कृपा होगी।

सार्वभौमिक धर्म

धर्म-विषयक सभी सकीर्ण, सीमित तथा सघर्षरत धारणाओं को नष्ट करना होगा। सम्प्रदाय, जाति या राष्ट्र की भावना पर आधारित सारे धर्मों का त्याग करना होगा। हर जाति या राष्ट्र का अपना अपना अलग ईश्वर मानना और दूसरों को भ्रान्त कहना, एक अन्धविश्वास है, उसे अतीत की वस्तु हो जाना चाहिए। धर्म बातों का विषय नहीं है – वह तो प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय है। हमें अपनी आत्मा में अन्वेषण करके देखना होगा कि वहाँ क्या है। हमें यह समझना होगा और समझकर उसका साक्षात्कार करना होगा। यही धर्म है। धर्म लम्बी-चौड़ी बातों में नहीं रखा है। अतः कोई ईश्वर है या नहीं, यह तर्क से प्रमाणित नहीं हो सकता, क्योंकि युक्ति दोनों ओर समान है। जिन व्यक्तियों ने वास्तव में ईश्वर एव आत्मा की उपलब्धि की है, वे ही सच्चे धार्मिक हैं।

– **स्वामी विवेकानन्द**

अतएव, इस आधुनिक काल में **ज्ञान** ही आदर्श है और सभी को ज्ञान के मार्ग पर चलना होगा। प्रकृति ने मनुष्य मात्र को अंगूठे से तर्जनी को स्पर्श करने की क्षमता दी है; इसी कारण वह अपने आसपास के जगत् को प्रभावित कर सकता है और ज्ञान तथा शक्ति प्राप्त कर सकता है। यह मानवीय विकास का प्रारम्भ है। श्रीकृष्ण के वर्णन में यह अद्भुत वाक्य विद्यमान है – **ज्ञानमुद्राय कृष्णाय**। भारत की सभी मूर्तियों में – महान् सन्तों, ऋषियों, अवतारों तथा देवियों की मूर्तियों में आपको यह **ज्ञानमुद्रा** विशेष रूप से देखने को प्राप्त होगी। शिव को दक्षिणामूर्ति के रूप में प्रस्तुत करते समय यह विशेष रूप से दिखाई देती है। इस **ज्ञानमुद्रा** के द्वारा वे अपने पास के ज्ञानार्थियों के संशय दूर करने में सक्षम हैं। यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है और हमें अपने वर्तमान काल की समस्याओं को सुलझाने के लिए इस परम्परा के सार का उपयोग करना चाहिए। पूरा देश ज्ञान तथा ज्ञान की खोज को समर्पित हो जाना चाहिए।

तपस्या का तात्पर्य तथा महत्त्व

पाश्चात्य लोगों ने ज्ञान के प्रति अति अद्भुत प्रेम दिखाया और उसके द्वारा आधुनिक सभ्यता का निर्माण किया।

घण्टे-पर-घण्टे शोध – क्लबों में जाने को समय नहीं, यहाँ तक कि नियमित रूप से खाने-पीने को भी समय नहीं, दो शताब्दियों तक लोगों ने इसी प्रकार कार्य किया, जिससे आज का महान् वैज्ञानिक ज्ञान, तकनीकी तथा सम्पदा का उद्भव हुआ है। युगों पूर्व हमारे भारत में भी ऐसी ही प्रवृत्ति थी, ज्ञान के लिए अदम्य पिपासा थी। दक्षिण भारत का कोई व्यक्ति सुनता कि वाराणसी में एक महान् विद्वान् रहते हैं, तो वह यह सोचकर पैदल ही वाराणसी की ओर चल देता कि 'मुझे उन आचार्य से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।' भारत के अन्य अंचल के विद्यार्थी चरक तथा सुश्रुत जैसे सुप्रसिद्ध आचार्यों से चिकित्सा तथा शल्यक्रिया-विज्ञान पढ़ने के लिए पश्चिमी पंजाब (अब पाकिस्तान) में स्थित तक्षशिला जाया करते थे। जहाँ कहीं

ज्ञान के लिए सच्ची पिपासा है, वहाँ कोई मार्ग की थोड़ी असुविधाओं की परवाह नहीं करता था। ज्ञान की खोज एक तपस्या है। तपस्या के बिना कोई ज्ञान नहीं मिलता। तपस्या तथा ज्ञान एक साथ चलते हैं। गीता में आगे चलकर (४/१०) श्रीकृष्ण कहेंगे – **बहवो ज्ञान-तपसा पूता** – अनेक लोग ज्ञान की तपस्या में पवित्र होकर। यदि हमारा पूरा देश **इस ज्ञान-तपस्** की भावना से अनुप्राणित हो जाय, तो हमारे राष्ट्रीय जीवन में अद्‌भुत प्रगति होगी। और **तपस्** के बिना केवल आरामकुर्सी में बैठे बैठे आपको कोई ज्ञान नहीं मिलनेवाला है। आपको इसके लिए **तपस्** रूपी प्रयास तथा संघर्ष के रूप में कीमत चुकानी होगी। हमारी संस्कृति में **तपस्** एक महान् शब्द है। उपनिषदों तथा गीता में इसका प्राय: ही उल्लेख आता है। **तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व** – "तपस्या के द्वारा ब्रह्म को जानो" – तैत्तिरीय उपनिषद् के इस वाक्य पर भाष्य करते हुए शंकराचार्य ने **याज्ञवल्क्य-स्मृति** से एक श्लोक उद्‌धृत करते हुए इस अद्‌भुत शब्द की परिभाषा की है। **मनसश्च इन्द्रियाणां च ऐकाग्र्यम् तप उच्यते** – मन तथा इन्द्रियों की शक्तियों को एकाग्र करना **तपस्** कहलाता है। और यह परिभाषा आप इस संसार के किसी भी ज्ञान की खोज को दे सकते हैं। वैज्ञानिक भी ऐसा ही करते हैं – वे अपने मनों को वैज्ञानिक पद्धतियों तथा दृष्टिकोणों में प्रशिक्षित करते हैं; इसके द्वारा वे प्रकृति के अन्तर में प्रवेश करने में सक्षम हो जाते हैं और युगों से प्रकृति द्वारा छिपाकर रखे गये रहस्य उनके सामने उजागर हो जाते हैं। इसी प्रकार इस माया के जगत् में आत्मा भी छिपी हुई है। हमारे वैदिक ऋषियों ने इस माया का भेदन किया और इस सतत परिवर्तनशील मायामय जगत् के पीछे स्थित अनन्त तथा अमृत तत्त्व रूपी आत्मा को ढूँढ़ निकाला।

हमारे सभी विद्यार्थियों को स्कूल या कॉलेज में प्रवेश लेते समय **तपस्** की धारणा अपने समक्ष रखनी चाहिए। स्कूल, कॉलेज या विश्वविद्यालय में काफी गम्भीर प्रयास के बिना ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती। यदि आप **तपस्** को निकाल दें, तो ज्ञान की खोज बड़ी सस्ती चीज हो जायेगी और आज की हमारी शिक्षा के साथ ऐसा ही हुआ है; जब आप विश्वविद्यालय जैसे ज्ञान की खोज के केन्द्रों में जाते हैं, तो वहाँ आपको **तपस्** का भाव तथा वातावरण नहीं मिलता; सब कुछ सहज भाव से चलता है; अपवाद स्वरूप केवल कुछ ही लोग हैं, जिनके भीतर अब भी सर्वदा **तपस्** की अग्नि जलती रहती है। हमारी संस्कृति में **तपस्** एवं **स्वाध्याय** एक साथ चलते हैं। **स्वाध्याय** का अर्थ है अध्ययन। वाल्मीकि का रामायण इन शब्दों के साथ आरम्भ होता है – **तप: स्वाध्याय निरतं नारदम्** – नारद जो निरन्तर **तपस्** तथा **स्वाध्याय** में निरत रहते थे। अत: इस ज्ञानमुद्रा की धारणा के पीछे **तपस्** और **स्वाध्याय** स्थित रहते हैं। अत: यह श्लोक कहता है – **ज्ञानमुद्राय कृष्णाय** – (हम प्रणाम करते हैं, उन) श्रीकृष्ण को, जो ज्ञानमुद्रा में हैं; और श्लोक आगे कहता है – **गीतामृत-दुहे नमः** – जिन्होंने (उपनिषदों रूपी गाय से) गीता रूपी अमृत का दोहन किया। यह विवरण पूरी तौर से अगले श्लोक में आयेगा। संस्कृत में **दुहे** का अर्थ है वह जो दूध दूहता है; **दुग्धम्** का अर्थ है दूध; **दुहिता** का अर्थ है पुत्री, जो प्राचीन आर्य गृहों में दूध दूहा करती थी। इसी संस्कृत शब्द से पुत्री अर्थवाले रूसी तथा स्लाव भाषा में 'डाक' (doch), जर्मन का 'टाचर' (tochter) और अंग्रेजी का 'डाटर' (daughter) शब्द निकले हैं।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीः भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ।।४।।

– "सभी उपनिषदें गाय हैं; गोपबाल (श्रीकृष्ण) दूध को दूहनेवाले हैं; अर्जुन बछड़े हैं; शुद्ध बुद्धिवाले नर-नारी इसको पीनेवाले हैं; और गीता रूपी महान् अमृत ही वह दूध है।"

यह एक अत्यन्त प्रसिद्ध श्लोक है, जो सम्पूर्ण भारत में लोकप्रिय है। इसमें गीता का उपनिषदों के सार के रूप में वर्णन किया गया है। तब अगले श्लोक में श्रीकृष्ण के प्रति एक श्रद्धांजलि आती है –

वसुदेव-सुतं देवं कंस-चाणूर-मर्दनम् ।
देवकी-परमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्-गुरुम् ।।५।।

– "वसुदेव के दिव्य पुत्र, (दुष्कर्मी) कंस तथा चाणूर का नाश करनेवाले, माता देवकी के परम आनन्दस्वरूप तथा सारे जगत् के गुरु श्रीकृष्ण को मैं प्रणाम करता हूँ।"

श्रीकृष्ण किसी वंश, राष्ट्र या जाति को शिक्षा देने इस धरती पर अवतीर्ण नहीं हुए थे। वे पूरी मानवता के लिए आये थे; पिछला श्लोक यही बताता है – **कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्**। अगला श्लोक काफी बड़ा तथा रूपकों से परिपूर्ण है –

भीष्मद्रोण-तटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला ।
अश्वत्थाम-विकर्ण-घोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवै रणनदी कैवर्तकः केशवः ।।६।।

– "इस युद्ध रूपी नदी में भीष्म तथा द्रोण रूपी तट हैं, जयद्रथ रूपी जल है, गान्धार-नरेश रूपी नीलकमल हैं, शल्य रूपी घड़ियाल हैं, कृपाचार्य रूपी प्रवाह है, कर्ण इसकी तट तक पहुँचनेवाली तरंगे हैं, अश्वत्थामा तथा विकर्ण रूपी भयंकर मगर हैं और दुर्योधन रूपी भँवरें हैं; पाण्डवगण केशव रूपी मल्लाह की सहायता से इस रणनदी को निश्चित रूप से पार कर गये।"

इसके बाद अगला श्लोक आता है –

पाराशर्यवचः सरोजममलं गीतार्थ-गन्धोत्कटं
नानाख्यानक-केशरं हरिकथा-संबोधनाबोधितम् ।
लोके सज्जन-षट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा
भूयाद्भारतपङ्कजं कलिमल-प्रध्वंसिनः श्रेयसे ।।७।।

– "पराशर-पुत्र (व्यासदेव) की वाणी रूपी सरोवर में उत्पन्न, गीता रूपी तीव्र सुगन्ध से युक्त, विभिन्न आख्यानों रूपी केशर से युक्त, हरि (परमात्मा) की कथाओं के द्वारा पूर्ण प्रस्फुटित, इस जगत् के सज्जन रूपी भ्रमरगण जिसका मधु निरन्तर पान करते रहते हैं, वह महाभारत रूपी पद्म उन लोगों का कल्याण करे, जो कलियुग के मल का नाश करने में प्रयत्नशील हैं।"

अगला श्लोक श्रीकृष्ण की कृपा के बारे में है। यह एक अत्यन्त लोकप्रिय श्लोक है –

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्द-माधवम् ।।८।।

– "मैं उन परमानन्द-स्वरूप माधव (श्रीकृष्ण) की वन्दना करता हूँ, जिनकी कृपा से गूँगा बोलने लगता है और लंगड़ा पर्वत को लाँघ जाता है।"

अनेक सन्तों तथा मुनियों ने ईश्वरीय कृपा की शक्ति को व्यक्त करने हेतु इस श्लोक को बारम्बार उद्धृत किया है। श्रीरामकृष्ण बताते हैं कि ईश्वर की कृपा रूपी वायु निरन्तर बह रही है, परन्तु तुम्हारी नाव इसलिए आगे नहीं बढ़ती कि तुमने अपने पाल नहीं खोले है। अपनी पालों को खोलो, तब तुम वायु को पकड़कर आगे बढ़ सकोगे। कृपा की अनुभूति करने के लिए इतना कार्य तो हमें करना ही होगा।

अब अन्तिम श्लोक आता है, जिसकी हम लोग प्रायः ही आवृत्ति किया करते हैं –

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्र-रुद्र-मरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैः
वेदैः साङ्ग-पदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणाः देवाय तस्मै नमः ।।९।।

– "उन परम देवता को मेरा प्रणाम है; जिनकी ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र तथा मरुत्-गण दिव्य स्तोत्रों से स्तुति किया करते हैं; सामवेद के गायक जिनका अंगों, पदक्रमों एवं उपनिषदों के साथ वेदों के द्वारा महिमा-गान किया करते हैं; योगीगण ध्यानावस्था में तल्लीन मन से जिनका दर्शन किया करते हैं; और सुर तथा असुरगण जिनकी सीमा को नहीं जानते।"

❖ (क्रमशः) ❖

विकास ही जीवन है

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, जगदलपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

विकास जीवन का नियम है; बल्कि स्वामी विवेकानन्द तो विकास को ही जीवन कहते हैं तथा सकोच को मृत्यु। विकास की प्रक्रिया ही जीवन के स्पन्दन को बनाये रखती है। यह प्रक्रिया तीन प्रकार के संघर्षों से होकर गुजरती है। हर व्यक्ति को अपने जीवन में ये विविध सघर्ष झेलने पड़ते हैं – एक है मनुष्य का प्रकृति से सघर्ष, दूसरा है उसका मनुष्य के साथ संघर्ष और तीसरा है उसका स्वय के साथ सघर्ष। पहले सघर्ष से सफलतापूर्वक जूझने के लिए भौतिक विज्ञान हमारा सहायक होता है, दूसरे संघर्ष में विजयी होने के लिए हम समाज-विज्ञान से मदद लेते हैं और तीसरे सघर्ष में जयी होने के लिए हम मनोविज्ञान, धर्मविज्ञान और अध्यात्मविज्ञान से सहायता ले सकते हैं। इन तीनों विज्ञानों का उचित सन्तुलन और समन्वय हमारी विकास-प्रक्रिया को द्रुत कर देता है।

प्रसिद्ध जीवविज्ञानी सर जूलियन हक्सले के मतानुसार विकास के तीन स्तर होते हैं – Physical, Mental or Intellectual तथा Psycho-social अर्थात् शारीरिक, मानसिक या बौद्धिक तथा मनो-सामाजिक। शारीरिक विकास की नात हम समझते हैं। जब बच्चा जन्म लेता है, तब उसकी ऊँचाई करीब १५ इंच और वजन ३ किलोग्राम होता है। वही जब ४० वर्ष का प्रौढ़ होता है, तो ऊँचाई शायद ६ फुट और वजन ८० किलोग्राम हो जाता है। यह शारीरिक विकास है। वैसे ही मानसिक या बौद्धिक विकास भी बोधगम्य है। शिशु जब धीरे धीरे विकसित होकर शैशवावस्था को पार करता हुआ कैशोर्य और यौवन में पहुँचता है, तब उसका मानसिक और बौद्धिक विकास भी साथ साथ सधता दिखाई देता है। यदि शारीरिक विकास तो हो, पर मानसिक विकास न हो, तो हम बालक को असामान्य कहते हैं और उसकी चिकित्सा कराते हैं।

अतएव मानसिक और बौद्धिक विकास भी हमें समझ में आता है। पर विकास का जो तीसरा स्तर मनो-सामाजिक कहकर पुकारा गया है, उसकी धारणा सामान्यतः हमें नहीं होती। हक्सले कहते हैं कि तीसरा स्तर ही मनुष्य को पशु से भिन्न बनाता है। पशु में शारीरिक और मानसिक विकास के स्तर होते हैं, पर मनो-सामाजिक विकास केवल मनुष्य का गुण है। विकास के इस तीसरे स्तर को यों समझें --

एक छोटा बच्चा केवल अपने लिए जीता है, उसे माता-पिता, भाई-बहन किसी की परवाह नहीं होती। उसे अपनी सुविधा, अपना सुख चाहिए। वह पाठशाला से लौटा। देखा - माँ खाट पर पड़ी हुई है। रोज उसके लौटते ही माँ उसे भोजन कराती थी। आज उसे लेटे देखकर वह बस्ता फेंकते हुए कहता है – "माँ, उठो न, चलो खाना दो। माँ यदि कह दे – बेटा, मुझे बुखार है, अंग अग टूट रहा है, उठा नहीं जा रहा है, तू वहाँ से खाने की चीजें निकाल ले", तो वह हाथ-पैर पटककर, मचलकर रोता है कि "उठो, खाना दो।" तब तक वह चिल्लाता रहेगा, जब तक माँ उठकर नहीं देगी। यह बच्चा केवल अपने लिए जीता है, दूसरे का दुःख-दर्द उसके स्वार्थ के आगे कोई माने नहीं रखता। पर यही लड़का जब कुछ बड़ा होता है और एक दिन विद्यालय से लौटने पर माँ को खाट में पड़े देखता है, तो वह माँ के माथे पर हाथ लगाकर देखता है कि बुखार तो नहीं है? पूछता है – "माँ, कैसी हो?" और माँ उसे खाना देने के लिए उठना चाहे तो मना करता है। कहता है – "लेटी रहो, मुझे बता दो मैं सब कर लूँगा, मैं खाना भी बना लूँगा।" वह डाक्टर के यहाँ से दवा ले आता है, माँ का शरीर दबा देता है। माँ का दुःख-दर्द अब उसका स्वय का दुःख-दर्द बन गया। यही मनो-सामाजिक विकास है। हम कहते हैं कि लड़के का मनो-सामाजिक विकास हुआ है। यह विकास हमें स्वार्थ के घेरे से ऊपर उठाकर दूसरे की पीड़ा का अनुभव करने में समर्थ बनाता है। हक्सले इस तीसरे विकास से युक्त व्यक्ति को Person यानि व्यक्ति कहते हैं। जिसमें मनो-सामाजिक विकास नहीं हुआ है, वह मात्र individual यानि व्यष्टि है। वे Person और individual का भेद स्पष्ट करते हुए कहते हैं – "Persons are individuals who transcend their merely organic individuality in conscious participation." – अर्थात् व्यक्ति वे व्यष्टि हैं, जो समूह में ज्ञानपूर्वक भाग लेते हुए मात्र अपने जैविक व्यक्तित्व को लाँघ जाते हैं।

विकास का यह तीसरा स्तर मनुष्य की मनो-सामाजिकता का सवर्धन करता हुआ उसे सही अर्थों में 'मानव' बना देता है तथा उसे दूसरों के लिए जीने की मानसिकता और क्षमता प्रदान करता है। ❑❑❑

जननी और मातृत्व

स्वामी सत्यरूपानन्द

प्रकृति की व्यवस्था में सभी जीव-जन्तुओं में मादा ही बच्चे को जन्म देती है। मनुष्य भी इसका अपवाद नहीं है। मनुष्य में भी स्त्री ही मानव सन्तान को जन्म देती है तथा सन्तान को जन्म देने के कारण ही वह जननी कही जाती है।

नारी का जननी होना प्रकृति की प्रक्रिया है। प्रकृति यदि साथ न दे तो नारी जननी नहीं हो पाती। कितनी ही विवाहिता सन्तानहीन महिलायें इसका प्रमाण हैं।

प्रकृति ने मानव जननी में मातृत्व का, माता के प्रेम का कुछ अश अवश्य दे रखा है। किन्तु प्रकृति द्वारा दिया गया यह अश उतना ही है जितना कि सन्तान के पालन-पोषण, सुरक्षा तथा थोड़ी सहायता के लिए आवश्यक है। किन्तु प्रकृति द्वारा दिये गये इस मातृत्व अश में स्वार्थ भी पर्याप्त मात्रा में मिला होता है। स्वार्थ के साथ साथ प्राकृतिक जननी के मन में ईर्ष्या भी अवश्य विद्यमान रहती है। विभिन्न जननियों में स्वार्थ और ईर्ष्या की मात्रा कम अधिक हो सकती है। पर अवसर आने पर सामान्य जननी के मन में स्वार्थ तथा ईर्ष्या को बढ़ते देर नहीं लगती। अपनी सौत तथा सौतेली सन्तानों के प्रति क्रूरतम व्यवहार करनेवाली सौतेली जननियों के उदाहरणों की संसार में कमी नहीं है। इस प्रकार के उदाहरणों से सभी परिचित हैं।

किन्तु नारी के जीवन का उद्देश्य केवल जननी होना नहीं है। नारी केवल जननी होकर जीवन में पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकती। नारी जीवन की पूर्णता तो मातृत्व, विशुद्ध मातृत्व में ही होती है। मातृत्व कोई शारीरिक स्थिति नहीं है। वह एक साधनलब्ध मानसिक अवस्था है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए नारी को विवाह करके जननी होना आवश्यक नहीं है। सन्तान की जननी होकर भी एक नारी मातृत्व उपलब्ध न कर सके यह सम्भव है तथा ससार में प्रायः ऐसा होता है।

किन्तु दूसरी ओर आजन्म कुमारी रह कर भी एक नारी पूर्ण मातृत्व पा सकती है और उसके द्वारा आध्यात्मिकता की ऊँचाइयों पर भी आरूढ़ हो सकती है। संसार में ऐसे उदाहरण भी देखने को यदा कदा मिल जाते हैं। मातृत्व तथा जननीत्व का अन्तर समझने के लिये मातृत्व के कुछ गुणों पर ध्यान देना सुविधाजनक होगा। उन गुणों पर एक दृष्टि डालें।

(१) माँ का सर्वप्रथम गुण है पवित्रता। किसी भी बच्चे के मन में अपनी माँ के प्रति पवित्रता के ही भाव रहते हैं। संसार का कोई भी इन्द्रिय-लम्पट, भोगी से भी भोगी, पामर व्यक्ति भी अपनी माँ के प्रति अपने मन में कभी अपवित्र भाव नहीं लाता। माँ का स्मरण करते ही उसका हृदय कामरहित होकर पवित्र हो जाता है। उसी प्रकार कोई भी माता अपने पुत्र के प्रति कभी भी अपवित्र भावों का पोषण नहीं कर सकती। माता का पुत्र के प्रति प्रेम कामगन्धहीन होता है। अतः मातृत्व का पहला गुण है पवित्रता, परम पवित्रता।

(२) मातृत्व का दूसरा गुण है प्रेम – निःस्वार्थ अहैतुक प्रेम। सामान्यतः ससारी माता भी अपनी सन्तान से निःस्वार्थ और अहैतुक प्रेम ही करती है। सन्तान की प्रसन्नता, सन्तान का कल्याण यही माँ की इच्छा रहती है।

दूसरी बात माँ सन्तान से प्रेम का प्रतिदान नहीं चाहती। कई बार ऐसा देखा गया है कि पुत्र माँ की उपेक्षा करने लगता है। उसे कष्ट देता है। माँ के प्रति प्रेम नहीं रखता। फिर भी माँ अपनी सन्तान से प्रेम नहीं छोड़ती। सन्तान के प्रति उसके मन में अहैतुक प्रेम बना ही रहता है। अतः शुद्ध, निःस्वार्थ, अहैतुक प्रेम – यह मातृत्व का दूसरा गुण है।

(३) मातृत्व का तीसरा गुण है निःस्वार्थ सेवा। माँ अपनी सन्तान की सेवा केवल प्रेम के वशीभूत होकर करती है। सेवा के पीछे उसका कोई स्वार्थ नहीं होता। मेरा बच्चा सुखी और प्रसन्न रहे, बस, यही एक भाव लेकर माँ बच्चे की सेवा करती है। उसकी सेवा के पीछे उसके स्वय का कोई स्वार्थ या हेतु नहीं होता। बच्चे का सुख, बच्चे का कल्याण, बस, यही माँ की सेवा के पीछे एक कामना रहती है। इस प्रकार अहैतुक निःस्वार्थ सेवा – मातृत्व का तीसरा गुण है।

इस पक्ष को निम्न उदाहरण से अधिक अच्छा समझा जा सकता है। एक नर्स पैसे लेकर किसी दूसरे बच्चे की सेवा शुश्रूषा करती है। बच्चे को स्वस्थ और प्रसन्न रखती है। किन्तु उस सेवा के पीछे उसका उद्देश्य धन कमाना है। किन्तु उस नर्स का यदि स्वय का कोई बच्चा हो और जब वह अपने बच्चे की सेवा करती है तब उसका भाव एकदम भिन्न होता है।

(४) त्याग और बलिदान – मातृत्व का चौथा गुण है त्याग और बलिदान। माँ अपने बच्चे के सुख के लिए सभी प्रकार का त्याग करने को प्रस्तुत रहती है। वह बच्चे के सुख और कल्याण के लिए कठिन से कठिन कष्ट सहर्ष स्वीकार करती और सहती है। माँ अपनी सन्तान के लिये सर्वस्व बलिदान करने को प्रस्तुत रहती है। बच्चे की प्राणरक्षा के लिये माँ अपने प्राण देने में भी नहीं हिचकती। अतएव त्याग और बलिदान मातृत्व का चौथा गुण है।

(५) मातृत्व का पाँचवाँ गुण है – माँ का अपनी सन्तानों के प्रति समान प्रेम। माँ की जितनी भी सन्तानें हों, माँ सभी पर समान रूप से प्रेम करती है। सेवा-शुश्रूषा आदि में विभिन्न सन्तानों की आवश्यकता के अनुसार भेद हो सकता है, होता है। किन्तु उसके कारण माँ के प्रेम में कमी-बेशी नहीं होती। माँ का प्रेम तो सभी बच्चों पर समान रहता है।

अपने सभी बच्चों पर समान प्रेम माँ का पाँचवाँ गुण है। पहली नजर में देखने पर ऐसा लगता है कि प्राकृतिक जननी में भी तो अपने बच्चे के प्रति ये सब गुण देखने को मिलते हैं, फिर माँ और जननी का अन्तर क्या है?

अधिकांश जननियों में ये सब गुण कुछ मात्रा में अपने बच्चों के प्रति देखने को मिलते हैं। किन्तु ज्योंही दूसरे के बच्चों का प्रश्न आता है तथा जब उसके अपने बच्चों के स्वार्थ से दूसरे के बच्चों के स्वार्थ का सामना होता है तब साधारण जननी अपने बच्चों की स्वार्थ-पूर्ति के लिए दूसरों का अहित करने में भी नहीं हिचकिचाती। उसके मन में अपने पराये का भेद आ जाता है। द्वेष, ईर्ष्या, छल, कपट सभी दोष आने लगते हैं तथा मानसिक जीवन निम्न स्तर का हो जाता है।

यही कारण है कि संसार की करोड़ों जननियों की आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो पाती। उनका जीवन भौतिक धरातल तक ही सीमित रह कर समाप्त हो जाता है। किन्तु महान् महिलायें मातृत्व के उपरोक्त गुणों का अपने जीवन में अधिकाधिक विकास करती जाती हैं। अपने मन से अपने पराये का भेद मिटा कर दूसरी माँ के बच्चों को भी अपने ही बच्चों के समान समझती है तथा उनके साथ वैसा ही व्यवहार करती हैं जैसा कि वे अपने बच्चों के साथ करती हैं। ऐसी माताओं का जीवन धीरे धीरे नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत होता जाता है। नारी मूल रूप में माता है। श्रीरामकृष्ण देव ने कहा है कि प्रत्येक नारी जगन्माता का ही रूप है।

अतः नारी जब अपने मातृत्व का विकास करती है, अपने क्षुद्र भावों को त्यागकर, उदात्त और उदार भावों का पोषण करती है; निःस्वार्थता, पवित्रता एवं अहैतुक प्रेम से परिपूर्ण हो जाती है, तब उसके भीतर सुप्त जगन्माता जागृत और प्रकाशित हो उठती है। उपनिषद् युग में गार्गी, मैत्रेयी; रामायण काल में सती अनुसुइया तथा अन्यान्य ऋषि पत्नियाँ। मीराबाई आदि मध्ययुग की महान् स्त्रियाँ और इस युग में भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला सहचरी श्री माँ सारदा, माँ आनन्दमयी। ये सभी महिलायें ऐसी थीं जिनमें विश्व-मातृत्व जाग उठा था। वे सबकी माता थीं। उनका मन राग-द्वेष से रहित हो गया था।

किन्तु यह स्थिति केवल जननी होने से नहीं प्राप्त की जा सकती। उसके लिए नारी को साधना करनी पड़ती है। त्याग-तपस्या आदि के द्वारा अपने जीवन में मातृत्व के गुणों का विकास करना पड़ता है। भेद-भाव त्यागकर विश्वमाता बनना पड़ता है।

विश्व-मातृत्व की साधना के लिए यह आवश्यक नहीं है कि कोई नारी विवाह करके जननी बने और तब मातृत्व की साधना करे। यदि कोई नारी आजन्म कुँवारी रहकर भी अपने जीवन में मातृत्व के गुणों का पूर्ण विकास कर ले तो वह विश्व-मातृत्व का अनुभव कर अपने जीवन को आध्यात्मिक दृष्टि से पूर्ण कर धन्य हो सकती है। ❑❑❑

धर्म और न्याय

न्यायमूर्ति श्री रमेशचन्द्र गर्ग

(विवेकानन्द विद्यापीठ, रायपुर द्वारा प्रतिवर्ष की भाँति अयोजित 'स्वामी आत्मानन्द व्याख्यानमाला' के अन्तर्गत ७ अक्तूबर, २००१ को छत्तीसगढ़ उच्च न्यायालय, बिलासपुर न्यायमूर्ति श्री रमेशचन्द्र गर्ग ने उपरोक्त महत्त्वपूर्ण विषय पर एक सारगर्भित व्याख्यान दिया, प्रस्तुत लेख उसी का एक अविकल अनुलिखन है । टेप पर से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री वीरेन्द्र कुमार वर्मा ने सम्पन्न किया है । – सं.)

धर्म तथा न्याय दोनों क्लिष्ट मगर विशिष्ट विषय हैं। कोई कह नहीं सकता कि न्याय कब अन्याय हो जाता है और अन्याय कब न्याय हो जाता है। और धर्म वह है जिसका कोई छोर नहीं, जिसकी कोई थाह नहीं – इन दोनों विषयों पर एक साथ बोलने का मुझे आदेश दिया गया है। न मैं कोई धर्माचार्य हूँ और न ही कोई न्यायविद्। बल्कि हूँ आप जैसा एक साधारण व्यक्ति, जिसे प्रभु ने कृपा करके एक न्यायधीश की कुर्सी पर बिठा दिया। नहीं जानता कि मैं कितना न्याय कर पाता हूँ। यह भी नहीं जानता कि मैं कितना धर्मानुकूल आचरण कर पाता हूँ। मैं एक न्यायाधीश के रूप में, एक प्रकरण के तथ्यों को देखते हुए निर्णय देता हूँ और मेरे उस निर्णय को देखकर पचासों लोग, पचासों पक्षकार इस बात का आकलन करते हैं कि मेरी समझदारी क्या है? मुझमें न्याय-गम्भीरता कितनी है? और मेरा धर्मानुकूल आचरण क्या है?

एक न्यायधीश के नाते मेरे पास काफी शक्तियाँ हैं, पर मुझे जनता की उन छोटी छोटी बातों को भी सहन करना पड़ता है, जो हर व्यक्ति अन्याय के खिलाफ उठाता है और कहता है कि इस न्यायाधीश ने कहीं कोई गल्ती की।

दोस्तो ! न्याय और विधि, विधि जिसे हम सामान्य तौर पर कानून कहते हैं – दोनों में अन्तर है। कही एक साधारण-सी गल्ती हमसे हो जाती है कि हम न्याय और विधि को एक मान लेते हैं। न्याय वह है, जो किया जाता है और जो होना चाहिए। विधि वह है, जिसके अन्तर्गत न्याय होना चाहिए। यदि विधि या कानून अन्यायकारी हों, न्याय न कर सकते हों, तो न्याय ऐसे कानून-विधि को निरस्त कर देता है। न्याय का मुख्य सिद्धान्त, जिसे हम प्राकृतिक न्याय (Natural justice) कहते हैं। दो सिद्धान्त उसमें मुख्य रूप से हैं। पहला सिद्धान्त – कोई भी व्यक्ति अपने स्वयं के प्रकरण में या ऐसे प्रकरण में जिसमें उसका हित निहित हो या उसके किसी परिचित या रिश्तेदार का हित निहित हो, न्यायाधीश की भूमिका नहीं करेगा। इसका मूल कारण यह है कि न्याय केवल होना ही नहीं, वरन् न्याय हुआ दिखना भी चाहिये। यदि मैं अपने ही प्रकरण में निर्णय देकर, स्वयं के पक्ष में निर्णय घोषित कर दूँ, तो मेरी ईमानदारी पर अँगुलियाँ उठ जायेंगी। लोग मेरी निष्ठा को ग्रहण लगा देंगे। पहला सिद्धान्त यह हुआ कि आप अपने स्वयं के प्रकरण में न्याय नहीं दे सकते। दूसरा सिद्धान्त यह है कि आप किसी भी पक्ष को या व्यक्ति को बिना सुने, न तो उसे अपराधी घोषित कर सकते हैं और न ही दण्डित कर सकते हैं। न्याय का प्राकृतिक सिद्धान्त मूल रूप से कहता है कि यदि आपको किसी पर अभियोग लगाकर उसे दण्डित करने का अधिकार है, तो उस व्यक्ति को भी आपके सामने उपस्थित होकर अपने स्वयं के बचाव करने का अधिकार है।

न्याय और कानून – इन दोनों में बड़ा भेद है। एक छोटा-सा उदाहरण देता हूँ। भारतीय दण्ड संहिता भिन्न भिन्न अपराधों के लिए भिन्न भिन्न सजा नियत करती है। किसी एक ही अपराध के लिये भी भिन्न भिन्न सजायें दी जाती हैं। मामले में क्या साक्ष्य प्राप्त हुए हैं? क्या सबूत आये हैं? और फिर अपराध किन परिस्थितियाँ में किया गया? इन सब पर विचार करके दण्ड निर्धारित किया जाता है।

किसी व्यक्ति के आधिपत्य की वस्तु को दुर्भावनापूर्वक हटा लेना चोरी है। चोरी अपराध है। चाहे किसी भी चीज की हो। एक माँ अपने भूखे बेटे के लिए किसी दुकान से रोटी चुरा लेती है। विधि के अनुसार उसने अपराध किया है। एक पिता अपने पुत्र की परीक्षा के लिये फीस जमा करने हेतु पैसे चुरा लेता है। एक शराबी पीने के लिये चोरी करता है। ये तीनों व्यक्ति एक ही साथ एक ही न्यायाधीश के समक्ष लाये गये। तीनों के अपराध सिद्ध हो गये। हमारा भारतीय दण्ड-विधान कहता है कि चोरी की सजा डाँट-फटकार से लेकर सात वर्ष की जेल तक हो सकती है।

एक न्यायाधीश के रूप में मैं उस माँ को डाँटकर छोड़ दूँगा कि तेरे बच्चे के लिये तुझे रोटी चाहिये थी तो कुछ काम करती, या कहीं और से लाती। भविष्य में ऐसा मत करना। उस पिता को सजा के रूप में उसने जितने रुपये चुराये, उतना दण्ड वसूल करवाकर जिसके रुपये चुराया उसको लौटाने का आदेश मैंने दिया। शराबी को मैं तीन माह से लेकर एक साल तक की सजा दूँगा। तीनों ने चोरी की, मगर परिस्थितियों को देखते हुए मैंने दण्ड अलग अलग दिये हैं। यदि तीनों को डाँट-फटकार कर छोड़ दूँ, तो जनता कहेगी कि मैंने न्याय नहीं किया। यदि मैं तीनों को एक एक साल की सजा दे दूँ, तब भी जनता यही कहेगी कि मैंने न्याय नहीं किया। यहीं से कानून और न्याय – इन दोनों का अन्तर आरम्भ होता है।

कानून शक्ति देता है कि कैसे, किस व्यक्ति को, क्या दण्ड दिया जाय। लेकिन न्याय अपराध की परिस्थितियों को देखते हुए दण्डित करने का आदेश देता है।

कानून है क्या? किसी व्यक्ति को क्या करना है और क्या नहीं करना है – यह सामान्य तौर पर जो समकालीन राज्य द्वारा निर्धारित किया जाय । उसके द्वारा मना किये हुए कार्य करना और उसके बताये गये कर्तव्यों को न करना भी गलत है । अत: राज्य द्वारा व्यक्ति के लिए उचित बताये गये कार्य ही विधि और अनुचित बताये गये कार्य निषेध हैं । प्राचीन काल में राजा-महाराजा जो भी कहते थे – 'उनकी सनक' तक विधि का रूप ले लेती थीं । कभी हम रूढ़ियों पर, रस्म-रिवाजों पर आधारित अपने सिद्धान्तों को विधि या कानून मान लेते हैं ।

आज संविधान द्वारा शासित इस जनतंत्र में हम संसद या विधायिका द्वारा बनाये गये विधानों से बँधे हुए हैं । न्याय, विधि-विधान या कानून से ऊपर है । वह कभी किसी कानून के पीछे नहीं चलता, बल्कि उसकी विवेचना करता है । विधि मनुष्य-निर्मित है । न्याय ईश्वर-प्रदत्त है । विधान को न्याय की कसौटी पर कसा जा सकता है । Fundamental rights या मूलभूत अधिकार के आधार पर यदि मैं कहूँ कि एक कोई बनाया गया विधान गलत है, यह प्राकृतिक न्याय-सिद्धान्त के विपरीत है या मेरे मूलभूत अधिकारों के विपरीत है, तो न्यायालय देख सकता है कि क्या यह कानून उचित है? और तब न्यायालय ऐसे कानून या विधि-विधान को संविधान के विपरीत कहकर निरस्त कर सकता है ।

न्याय कानून या विधि से एक ही कदम आगे चलता है । न्याय कठोर हो सकता है, बेईमान नहीं । कानून बेईमान होकर भी लचीला हो सकता है । कठोरता न्याय का गुण है और लचीला या कठोर होना कानून का गुण है । कभी कोई यह नहीं कह सकता कि ईश्वर बेईमान है या ईश्वर ने अन्याय किया है । हम उनसे केवल इतना ही कह सकते हैं कि वह बड़ा कठोर है और यदि वह कठोर है तो उसका न्याय भी कठोर हो सकता है, बेईमान नहीं । व्यक्ति-विशेष या परिस्थिति-विशेष के लिए विधि-विधान बनाये जा सकते हैं और इस दृष्टि से हमारा देश महान् है । यहाँ समय और परिस्थितियों के अनुसार विधान बनते गये या निरस्त होते गये । समय और परिस्थिति के अनुसार संसद या विधायिका द्वारा जिन विधियों का निर्माण हुआ है, उन्हें पुन: न्याय की कसौटी पर कसा जा सकता है ।

न्याय यदि आत्मा है तो कानून शरीर है । यदि शरीर भ्रष्ट या बेईमान हो जाय, गलत काम करे, तो आत्मा कराह उठती है । कानून के बेईमान हो जाने पर न्याय चीत्कार कर उठता है । न्याय कहता है कि इस विधि या कानून को नष्ट कर दो । विधि या कानून न्याय के ऊपर नहीं हैं, क्योंकि हम न्याय को सर्वोपरि और न्याय के समक्ष सबको बराबर मानते हैं । न्याय का कार्य हर गल्ती को सुधारना है – अपराधी को दण्ड देना और निर्दोष को मुक्त करना है । यह भी नहीं कहा जा सकता कि कानून के अन्तर्गत किया गया हर कार्य न्यायपूर्ण ही हो । कानून के अनुसार हुए कार्य ठीक भी हो सकते हैं और गलत भी । कानून का कार्य लोगों को केवल इतना ही बताना है कि वे क्या करें और क्या न करें । और न्याय? न्याय इस बात की समीक्षा करता है कि वास्तव में विधि और विधान के अन्तर्गत जो किया या कराया जा रहा है, वह कहाँ तक ठीक है ।

और धर्म किसे कहते हैं? जहाँ तक मैं समझ सका हूँ – धर्म केवल वेदों, पुराणों, शास्त्रों तक ही सीमित नहीं है । धर्म इससे परे भी है । धर्म कुछ ऐसा तत्त्व है, जो मुझसे कहता है कि यह जो तुम कर रहे हो, यदि इसे जनता स्वीकार कर ले, तो इसे धर्म मानो । लेकिन जनता द्वारा तुम्हारे गलत कार्य को स्वीकार कर लेने के बाद भी तुम्हारी आत्मा कचोटती हो, लगता हो कि तुम गलत हो, तो जनता के भाव को न स्वीकार करते हुए अपनी आत्मा के मर्म को समझो और उसी धर्म का पालन करो । क्या मानवता भी धर्म है? क्या धर्म-ग्रन्थों के भी ऊपर उठकर आत्मा और परमात्मा के बीच एक संयोग जोड़ना, संवाद करना धर्म है? या जिसे हमारे धर्मशास्त्र सही कहें, उनके पालन को ही धर्म मान लिया जाय?

न्याय और धर्म की परिभाषा देश, काल और परिस्थिति के अनुसार बदलती रहती है । बचपन में एक बोधकथा पढ़ी थी कि एक ब्राह्मण रेगिस्तान में बहुत दूर से थके-हारे चले जा रहे थे । मरणान्तक स्थिति थी । प्राण निकलने को थे । उन्हें उस पुराने जमाने का एक अछूत मिला । उन्होंने अछूत से पूछा, "तेरे पास कुछ खाने का है क्या?" अछूत ने कहा, "मेरे पास उबले हुए मूँग हैं । लेकिन विप्रवर, यदि आप ये मूँग खा लेंगे तो आपका धर्म भ्रष्ट हो जायेगा । आप क्या करेंगे?" ब्राह्मण बोले, "तुम ये मूँग मुझे दे दो ।" उन्होंने भरपेट खाया । पेट भर जाने के बाद जब अछूत उन्हें पानी देने लगा, तो विप्रदेव बोले, "यह पानी मैं नहीं पी सकता, क्योंकि तू अछूत है ।" अछूत ने कहा, "महाराज, मेरे हाथ के दिये हुए मूँग तो आपने खा लिये हैं, तब क्या मैं अछूत नहीं था?" विप्र ने कहा, "देख, जीवन-रक्षा मेरा सर्वोपरि धर्म था, क्योंकि कहा गया है – **शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्** – यदि शरीररक्षा कर सका, तभी धर्मरक्षा कर पाऊँगा, अत: शरीर की रक्षा के लिए मैंने तेरी चीज खा ली, पर पानी न पीने से मैं मरूँगा नहीं ।"

परिस्थिति के अनुसार धर्म की परिभाषा बदल गयी । कल तक जो धर्म था, सम्भव है आज हम उसे अधर्म मान लें । कल तक जिसे हमने न्याय माना, सम्भव है कि आज हम उसे अन्याय मानें । सीताजी की अग्निपरीक्षा त्रेतायुग में धर्म भी था और न्याय भी; पर आज का हमारा तथाकथित सभ्य समाज इसे कभी स्वीकार नहीं करेगा । धर्म और न्याय – दोनों की ही परिभाषाएँ देश, काल तथा परिस्थितियों ने बदल दी हैं ।

मेरे साथ जीवन में जो रहे, मेरे साथ जिन्होंने सपने बुने, वे यदि यह जानकर कि मेरे साथ रहते हुए वे भी मरेंगे, मेरा

साथ छोड़ दें, तो क्या यह धर्म या न्याय होगा? किसी का हाथ पकड़कर मैं कहूँ – तुमने मेरे साथ सात जन्म तक जीने की कसम खायी थी, अब मेरे साथ मरो। तो क्या यह धर्म या न्याय होगा? धर्म या न्याय किसी देश की परिस्थितियों में लागू होता है। आप फौज के सिपाही के हाथ में बन्दूक देकर उसे सड़क पर किसी को गोली मार देने को कहें, तो यह अधर्म है, अन्याय है; लेकिन वही सिपाही जब चारों ओर से दुश्मनों से घिरा हुआ हो और गोली चलाकर किसी को मार दे या गल्ती से अपने ही किसी साथी की हत्या कर दे, तो वह न अन्याय है और न अधर्म। कही कहीं ये एक सिक्के के दो पहलू हो जाते हैं। सिक्के के एक पहलू पर छपा हुआ शेर यदि न्याय या सत्ता का प्रतीक है तो उसी के दूसरी ओर छपी कीमत आपके धर्म का प्रतीक है। मेरी समझ के अनुसार अपने कर्तव्यों का पालन उचित रूप से पालन ही धर्म है।

कौन-सा धर्म कहता है कि आतंक फैलाओ, भ्रष्टचार करो, गरीबों पर अत्याचार करो? पर अपनी अपनी परिस्थितियों में हम सभी इसे उचित और न्यायसंगत ठहराते हैं। ओसामा बिन लादेन भी अपने कृत्यों को धर्म कहता है। और अमेरिका भी हमले की पृष्ठभूमि तैयार करते हुए उसे न्याय्य और धर्मयुक्त कहता है। भारत भी जब परिस्थितिवश आतंकवाद से निपटने के लिये किसी की मदद करने को हाथ बढ़ाता है, तो कहता है – यह मेरा धर्म है, यही मेरा न्याय है। **कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन** – फल की चिन्ता छोड़ कर्म किये जाओ।

जब सब कुछ तुम करवा रहे हो, जब सब कुछ तुम्हारे कहे अनुसार ही हो रहा है, तब मेरी गल्ती, मेरी त्रुटि, मेरा अन्याय क्या है? डॉ. राही मासूम रजा का एक शेर है –

पत्ता भी गर हिलता है तो उसकी रज़ा से
बन्दा जो गुनहगार है, मालूम नहीं क्यों।

यहीं से द्वन्द और तर्क शुरू होता है और यहीं से धर्म तथा न्याय के बीच एक युद्ध आरम्भ होता है। जिसे आपने धर्म कहा, उसे मैंने न्याय की कसौटी पर कस दिया। जिसे मैंने न्याय कहा, उसे आपने धर्म की कसौटी पर कस दिया। कभी कभी गीता के ही एक वाक्य – **मामनुस्मर युध्य च** – की हम बात करते हैं और कोई कहता है – अन्याय, अधर्म के विरुद्ध लड़ो। मेरा स्मरणकर युद्ध करो और वह युद्ध जब तुम करते हो तो स्वयं को निष्क्रिय और निष्कर्म नहीं पाते। लेकिन सक्रिय और सकर्म पाते हुए जब तुम कर्म करते हो तब आत्मा की बात करते हो, धर्म की बात करते हो और न्याय की बात करते हो। **मामनुस्मर युध्य च** – इसका पालन करनेवाला व्यक्ति कैसे गलत होगा? आप कैसे उसके कार्य को अन्याय कह देंगे? मेरी परिस्थितियों ने मुझे बताया है कि मुझे अन्याय एवं अधर्म के विरुद्ध लड़ना है। एक ऐसी आग जलानी है, जिसमें सब कुछ स्वाहा हो जायेगा। आप लोग क्यों उस आग की आँच से, उसकी तपिश से पीछे हटने लगते हैं। मैं भी तो आपके सामने इसी सन्देश का हवाला देता हूँ – **मामनुस्मर युध्य च**। यदि मैं गलत हूँ तो आप मुझे गलत सिद्ध करें। यदि आप गलत हैं तो मैं आपको गलत सिद्ध करूँगा। यदि इन दोनों बातों के बीच कोई समझौता नहीं हो सकता, तो न्याय और धर्म के बीच कहीं कोई गुंजाइश नहीं है।

न्याय और धर्म – दोनों को एक साथ रहना और चलना है। एक न्यायधीश के नाते मैं अपने स्थान पर बैठकर निर्णय देता हूँ। न मैं मौके पर हाजिर था, न मैंने देखा कि किन परिस्थितियों में इन साक्षियों के समक्ष अपराध हुआ है या किस व्यक्ति के सामने किसी दूसरे ने हस्ताक्षर करके पैसे लिये है। मैं दोनों पक्षों के गवाहों के बयान देखता हूँ। उन बयानों में से जो चीज मुझे सबसे अच्छी लगती है, उसे मैं स्वीकार कर लेता हूँ। मेरा निर्णय सही है या गलत? इस बात की कोई गारंटी नहीं, क्योंकि मैं उस बात पर निर्णय दे रहा हूँ, जो मैंने देखी नहीं है। मैं आपको केवल एक बात की गारंटी दे सकता हूँ कि जो निर्णय मैंने दिया है, वह मैने अपनी पूरी निष्ठा और पूरी बुद्धि से दिया है। जब मेरी अदालत के नीचे का जज यह कहता है कि यह गिलास आधा भरा है। वादी जीत जाता है और न्यायालय के बाहर जाकर न्यायाधीश की जय-जयकार करते हुए कहता है – देखो, इसे न्याय कहते हैं। इसके बाद प्रतिवादी अपील करता है और उसका वकील अपील-न्यायालय को यह कहकर सन्तुष्ट कर देता है – साहब, मेरा चश्मा लगाकर देखिए, मेरे तर्कों के आधार पर देखिए, यह गिलास आधा भरा नहीं, वरन् आधा खाली है। अपील निर्णय देता है कि गिलास आधा खाली है। प्रतिवादी जीत जाता है और वह जय-जयकार करता है कि देखो, नीचे की अदालत ने अन्याय और अधर्म किया था और अपील के न्यायाधीश कितने न्यायप्रिय और धर्मालु हैं। उन्होंने कोई अनुचित नहीं किया। क्योंकि हमारी न्याय-व्यवस्था में, हमें उस बात पर न्याय करना है, जिसके बारे में हम कुछ नहीं जानते। उन लोगों की बात पर विश्वास करते हैं जो हमें आकर कुछ कहते हैं।

धर्म कहता है कि किसी की सुनी हुई बात पर विश्वास मत करो। न्याय और कानून कहता है कि जो तुम्हारे सामने कहा जाय, उस पर विश्वास करो और जो ज्यादा विश्वसनीय हो, उसके आधार पर निर्णय दे दो। पर वास्तव में गिलास आधा भरा है या आधा खाली है? इससे ऊपर उठकर एक तीसरा सच भी तो है, जिसके बारे में कभी वादी-प्रतिवादी, छोटे जज और बड़े जज में कोई मतभेद नहीं हो सकता और वह है – गिलास बड़ा है और पानी कम है।

किस तरह से किसी चीज को देखा जाय, बस इसी को यदि हम धर्म मानते रहें और इसी को हम न्याय कहते रहें, तो कहीं-न-कहीं हम गड़बड़ी कर जायेंगे। मित्रो, सूर्य रोज निकलता

है। रोज उष्मा देता है। प्रकाश देता है। जब सूरज उगता है, ऊपर उठता है, तो कमल की कली पूर्ण पुष्प में परिवर्तित होने लगती है। क्या हमने कभी इस बात पर ध्यान दिया कि हर कली सूर्योदय के साथ ही फूल बनती है? एक विशिष्ट समय आने पर ही वह कली पुष्प में परिवर्तित क्यों होती है? कमल खिल जाने के बाद सूर्य के आगे चाहे कितने भी घने बादल क्यों न आ जायँ, तो भी कमल खिला रहेगा। कहीं-न-कहीं कोई लगाव उस कमल और सूर्य के बीच है। पर जैसे ही उस सूर्य को ग्रहण लगता है, वैसे ही वह कमल, जो बादलों की ओट से भी सूर्य को देख पा रहा था, उसे ज्ञात हो जाता है कि मेरे सूर्य को ग्रहण लग गया है और कमल बन्द हो जाता है। ग्रहण हटते ही कमल फिर खिलने लगता है। कहीं-न-कहीं उस कली और सूर्य के बीच ऐसा सम्बन्ध है, जिसके आधार पर यथासमय कली को खिलना है, समय के पहले नहीं, समय के बाद नहीं और मैं समझता हूँ कि वह समय सूर्य और कमल के बीच एक सत्य का है, एक ऐसे सत्य का जो सूर्य की उष्मा से प्राप्त होता है और कमल-कलिका की आत्मा में चला आता है, जो कलिका उस सच को, उस उष्मा को, उस गर्मी को अपने भीतर समाविष्ट नहीं कर पाती, आत्मसात् नहीं कर पाती, वह कमल-कलिका कभी खिल नहीं पाती।

उस सच की आँच को हममें से कितने लोग सहन करने को तैयार हैं? एक समय पर ही हमारे भीतर वह शक्ति आती है कि हम उस सूर्य के सच को स्वीकार कर सकें और उस सच के सूर्य के साथ खिलते हैं और सूर्य के ढलने पर ही मुरझा जाते हैं। यदि हमारे अन्दर वह शक्ति नहीं है कि सूर्य की शक्ति को आत्मसात् कर सकें, तो एक छोटी कलिका के समान हम कभी खिल नहीं पायेंगे। सूर्य के सामने खड़े होकर, सूर्य की तरफ पीठ करके खड़े होनेवाले व्यक्ति परछाई को देखकर प्रसन्न होते हैं। क्योंकि पीठ पीछे सूर्य हो तो सामने की परछाई अपने कद से बहुत लम्बी होती है। कद को देखकर, सच और प्रकाश से मुख मोड़कर आदमी जब सामने देखता है, तो अपने से पचास गुनी लम्बी परछाई देखकर स्वयं को बहुत ऊँचा आदमी समझता है। उसे लगने लगता है कि इस सम्पूर्ण चराचर जगत् में भला उससे बड़ा आदमी कौन है? दोपहर होने पर जब परछाई उसके पैरों पर गिरती है, तब कुछ-न-कुछ सच और वास्तविकता का भान उसे होने लगता है कि वास्तव में मेरी परछाई मुझसे बड़ी नहीं है। कोई भी बात जो मुझमें है, वह मुझसे बड़ी नहीं है, मेरी परछाई आज मेरे पैरों पर पड़ी है। जब जीवन की शाम आती है, सत्य से साक्षात्कार होता है, सूर्य सामने और परछाई पीछे होती है तब आदमी को लगता है कि सच के सिवा कुछ नहीं है। मेरी तो परछाई ही अब मेरे पीछे चली गई है। इस सच को स्वीकार करना न्याय है, इस के अनुसार आचरण करना धर्म है।

नरेन्द्र से विवेकानन्द बनना एक छोटी-सी बात थी और एक बहुत बड़ी बात भी थी। बस, कली से कमल बनने जैसी बात थी – एक सत्य से साक्षात्कार, स्वयं से साक्षात्कार, आत्मा से साक्षात्कार। जिस व्यक्ति ने स्वयं से, आत्मा से साक्षात्कार कर लिया, वह न तो अन्याय करता है और न अधर्म की बात करता है। आप जो धर्म से जुड़े हुए हैं, उनका कहना है कि जो धर्मानुकूल है, वह न्याय है। 'मैं' न्याय से जुड़ा हुआ है, न्याय-पद्धति और न्याय-प्रकिया से जुड़ा हुआ हूँ। मैं कहता हूँ – जो न्यायानुकूल है, वह धर्म है। कहीं तो इन दोनों के बीच एक सामंजस्य स्थापित होगा। आप सिर्फ धर्म को न्याय कहें और मैं न्याय को धर्म कहता रहूँ, तो झगड़ा होता रहेगा। कौन है जो इन दोनों के बीच हमें रास्ता बतायेगा? यदि विश्लेषण करें, तो हम स्वयं। मैं हमेशा अपने न्यायाधीश बन्धुओं से कहता हूँ कि जब शाम को घर लौटकर जाओ, तो आइने में अपनी आँख-में-आँख डालकर देखो। यदि तुम अपनी आँख-में-आँख डालकर देख सकते हो, तो मान लो कि आज तुमने अच्छा काम किया; अन्याय और अधर्म नहीं किया, क्योंकि तुम अपनी आँख-में-आँख डालकर देख सकते हो। पर यदि तुम अपनी आँखों-से-आँखें नहीं मिला पा रहे हो, तो दुनिया से आँखें कैसे मिलाओगे! सिर्फ पाँच मिनट का रोज का आत्म-विश्लेषण, आत्मज्ञान, आत्मसंयम, तुम्हें न्यायप्रिय और धर्मप्रिय – दोनों बना देगा। विधि से और धर्म से बढ़कर कौन है? जब न्याय की बात होती है तो न्याय से ऊँचा कोई नहीं, चाहे वह भगवान राम रहे हों या भगवान कृष्ण। हर कोई अपनी मर्यादाओं से बँधा हुआ था। हर व्यक्ति ने कहा कि हम अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं करेंगे और इन मर्यादाओं का परिपालन ही हमारा धर्म था। इन मर्यादाओं का परिपालन ही हमारा न्याय था।

हम हिन्दू धर्म की बात करते हैं। हमारे यहाँ द्वैत और अद्वैत दोनों है। बुत-परस्त होना मेरा धर्म है, बुत-शिकस्त होना किसी और का धर्म है, लेकिन जहाँ तक मैं समझता हूँ कि मेरी श्रद्धा, मेरा विश्वास, मेरा समर्पण, बस, यही मेरा धर्म है। भूखे का धर्म रोटी है और प्यासे का धर्म पानी। भूखे को रोटी मिले और प्यासे को पानी, यह प्रयत्न मेरा धर्म है और यदि मैं इसमें सफल हो जाऊँ तो यह न्यायप्रिय बात है। धर्म और न्याय की तुलना कैसे की जा सकती है? धर्म जन्म लेता है – श्रद्धा से, समर्पण से। न्याय जन्म लेता है – समझ और बुद्धि से। जहाँ बुद्धि लग जाती है, वहाँ श्रद्धा और समर्पण समाप्त हो जाता है। क्योंकि बुद्धि का काम हर वस्तु के अन्दर यह देखना है कि यह ठीक है और यह गलत है। जहाँ श्रद्धा और समर्पण है वहाँ व्यक्ति यह नहीं देखता कि मेरे आराध्य ने क्या किया? जो वे कह रहे हैं, उसी को मैं सत्य मानूँगा, चिरन्तन और सनातन सत्य मानूँगा और उसी को धर्म मानकर

चलूँगा। कुछ ऐसी बात जिसे मैं न्याय और धर्म कहता हूँ, उसे आप अन्याय और अधर्म कह सकते हैं। लेकिन मेरे उस अधिकार की रक्षा आपको करनी पड़ेगी, जब मै आपके धर्म और न्याय को अधर्म और अन्याय कहूँ। यह आवश्यक नहीं है कि मैं आपकी बात से सहमत होऊँ और यह भी आवश्यक नहीं है कि आप मेरी बात से सहमत हों; आवश्यक तो यह है कि मैं आपके अधिकारों की और आप मेरे उन अधिकारों की रक्षा करें, ताकि मैं आपको और आप मुझको गलत ठहराने का प्रयत्न कर सकें। यदि मैं आपके इन अधिकारों की रक्षा नहीं कर सकता तो मैं अन्याय करता हूँ, यह अधर्म है और आप मुझ पर यह आक्षेप लगा सकते हैं कि आपको अपनी बात को सही और सत्य सिद्ध करने का मौका नहीं दिया गया। इसे आप अन्याय और अधर्म कहते हैं।

धर्म और न्याय, वास्तव में ही उस एक ही गाड़ी के दो पहिये हैं, जिस पर बैठकर मानवता यात्रा करती है। गाड़ी का यदि एक पहिया छोटा और दूसरा बड़ा रहे, तो गाड़ी उलट सकती है। एक भी पहिया चलने से इन्कार कर दे, तो गाड़ी आगे नहीं चलेगी। वहीं गोल गोल घूमती रहेगी। बस, धर्म और न्याय – इन दोनों के बीच की एक ही धुरी है, एक ही सामंजस्य है और वह यह कि हम जो कार्य कर रहे हैं, क्या वह मानवता को समर्पित है? मानवता केवल एक ही बात पूछती है – क्या मैं दूसरों के साथ उच्छृंखलतापूर्ण आचरण कर सकता हूँ? यदि नहीं कर सकता, तो फिर मुझे वैसा ही आचरण करना चाहिए, जिसकी अपेक्षा मैं दूसरों से करता हूँ।

यदि व्यक्तिगत रूप से अपने बारे में कहूँ, तो न तो मैं धर्म के बारे में जानता हूँ, न न्याय के बारे में। जो कुछ मुझे ठीक लगता है, वही धर्म है, वही न्याय है। मेरी परिस्थितियों में जो उचित है, जो मुझे करना चाहिये और जिसे किये बिना मैं आगे नहीं बढ़ सकता, मैं उसी को धर्म मान लेता हूँ और उसी को न्यायानुकूल समझ लेता हूँ। हो सकता है कि आपकी दृष्टि में यह गलत हो। मैं एक बड़ा ही गुस्सैल और जिद्दी आदमी हूँ और यह बताते हुए मुझे कभी कोई संकोच नहीं हुआ। परन्तु जिद्दी और गुस्सैल होने के बावजूद मैं अधर्म नहीं करता, अन्याय नहीं करता। मेरे न्यायालय में खड़े किसी व्यक्ति पर यदि मुझे क्रोध आ जायेगा, तो मैं उसका मुकदमा सुनने से इन्कार कर दूँगा, क्योंकि कहीं-न-कहीं मेरी आत्मा मुझसे यह कहती है कि शायद तुम्हारा क्रोध तुम्हारे विवेक को खा गया है और तुम इस आदमी के साथ अन्याय करोगे। नाराजगी यदि मेरे सामने खड़े हुए किसी वकील से है, तो मैं उस वकील के पीछे खड़े पक्षकार को देखना नहीं भूलता। गल्ती वकील ने की है, सजा पक्षकार को क्यों दूँ?

गुस्सा करना मेरा धर्म है, लेकिन न्याय करना भी मेरा धर्म है। मित्रो, क्रोध माता के रूप में, पिता के रूप में, गुरु के रूप में या शत्रु के रूप में आता है। अलग अलग प्रकार के क्रोध हैं। माता का क्रोध बच्चे के प्रति उसका लाड़ है। पिता का क्रोध उसे जीवन में ऊँचा उठाने के लिये है। गुरु का क्रोध आगे बढ़ाने के लिये है और शत्रु का क्रोध उसका नाश करने के लिये है। क्रोध जब आप करें, तब अपने आप से एक प्रश्न पूछें कि क्या यह धर्माचरण है या क्या यह न्यायसंगत है? स्वयं अहसास होगा कि क्या मैं ठीक हूँ?

जिद्दी भी कई तरह के होते हैं – बाल हठ, राज हठ और त्रिया हठ। बालकों को हठ करने का अधिकार है। यदि मैं गलत हूँ तो मुझे समझाइये, सुधारिये – यह कर्तव्य, यह धर्म आपका है और यदि आप मुझे सुधार नहीं सकते, तो फिर गल्ती आपकी है। मैं जिद्दी हूँ, मैं गुस्सैल हूँ, मैं अपने धर्म पर चल रहा हूँ। जब मैं वकालत में था, तो एक वरिष्ठ वकील ने कहा, "रमेश, तुम तो आग रखे हो, जलाते हो।" मैंने कहा, "आग का तो धर्म ही जलाना है। जिस दिन मैं जलाना बन्द कर दूँगा, आग नहीं रह जाऊँगा, राख हो जाऊँगा।" कैसे इस आग का उपयोग करें – यह समझ आपमें होनी चाहिये। आप इस आग से खेलेंगे, तो जल जायेंगे और जल जाने के बाद शिकायत करेंगे तो यह आपकी नादानी है। मैंने अपने धर्म का पालन किया, आपने अपने धर्म का पालन नहीं किया। इस आग से आप खाना बना सकते हैं। इस आग से आप कहीं रोशनी कर सकते हैं। इस आग से आप किसी को प्राण दे सकते हैं। इस आग से किसी के प्राण ले सकते हैं। इस आग का उपयोग यदि आप अपनी समझदारी से करें, तो यह आपका धर्म है। मैं जलाऊँगा तो मेरा धर्म है और इस आग का उपयोग आपका धर्म है। तो एक आग होना, एक आग बनकर जलाना, अपने आप में अपना धर्म है और कहाँ गलत है इसमें? यदि मैं आग होकर न जलाऊँ, तो अपने धर्म का पालन नहीं कर रहा हूँ। आग होकर न जलाऊँ, गर्मी न दूँ, तो मैं अन्याय कर रहा हूँ। आदमी ठण्ड के मौसम में चौराहे पर लकड़ियाँ इकट्ठी कर ले कि अब इस आग से हमें गर्मी प्राप्त होगी और आग यदि ठण्डी होकर उसे गर्मी न दे, तो कहीं-न-कहीं उसके साथ अन्याय कर रहा है। लेकिन आग जलाते हुए उनको एक बात का ध्यान तो रखना ही पड़ेगा, यह न्याय उन्हें अपने आप के साथ करना होगा कि ऐसे सभी लोग उस आग से इतनी दूर बैठें कि उस आग से जलें नहीं।

धर्म और न्याय – दोनों को जितना मैं समझता हूँ, उसे एक छोटी-सी उक्ति में व्यक्त किया गया है – **न त्वहं कामये राज्यं न सुखं न अपुनर्भवम्** – मुझे कुछ नहीं चाहिये; राज्य नहीं चाहिये, सुख नहीं चाहिये, पुनर्जन्म से मुक्ति नहीं चाहिये। यही मेरा धर्म है। **कामये दुःखतप्तानां प्राणिनाम् आर्तिनाशनम्** – बस, इतनी ही इच्छा है कि मैं दुखी प्राणियों के कष्टों को दूर कर सकूँ। यही मेरा न्याय है। धन्यवाद। ❏❏❏

अविरोध : जीवन की उत्तम वृत्ति

भैरवदत्त उपाध्याय

अविरोध और विरोध – जीवन की सकारात्मक-नकारात्मक – दो वृत्तियाँ हैं। जीवन के विधेयात्मक-निषेधात्मक – दो पहलू हैं। देखने की दो दृष्टियाँ हैं। नकारात्मक पक्ष के लोग जीवन में अन्धकार, निराशा, हताशा और कुण्ठा आदि भावों को अपनाते हैं। वे जीवन के प्रति निर्मोही होते हैं। अत: लोगों के प्रति वे निर्दय, निर्मम, कठोर और निस्पृह होते हैं। वे मृत्यु की कुण्ठा से ग्रसित होते हैं। अत: जीवन का सकारात्मक पक्ष उन्हें दिखाई नहीं देता। वे क्रोधी, ईर्ष्यालु, आक्रोशग्रस्त, चंचलचित्त, अस्थिर, दुराग्रही तथा लक्ष्यहीन होते हैं। चूँकि जीवन में उनका दृष्टिकोण नकारात्मक होता है, इसलिए उनके लिये सम्पूर्ण संसार भयावह, अनाकर्षक तथा रसहीन होता है। उनका स्नेह क्षणिक, मित्रता अस्थायी तथा लक्ष्य अस्थिर होता है। उनके विचारों में परिपक्वता, चिरन्तनता, नित्य नवीनता, गम्भीरता, उदारता एवं व्यापकता नहीं होती। उनके जीवन की कोई सार्थक परिभाषा और उद्देश्य नहीं होता।

एक व्यक्ति दूसरे का विरोध क्यों करता है? क्योंकि उसमें अतृप्त इच्छाएँ, दम्भ, दर्प, अभिमान, तृष्णा, ईर्ष्या, क्रोध, लोभ, काम, मोह, अहंकार आदि मानसिक दुर्बलताएँ होती हैं। और इनके कारण वह अपनी स्थिति सन्तोषप्रद नहीं बना पाता। अन्य व्यक्ति सम्मान, पद, धन, वैभव या गौरव प्राप्त करता है, तो वह सह नहीं पाता। उसे सन्तोष नहीं मिलता और अधिक पाने के लिये व्याकुल रहता है। दूसरों को तुच्छ समझता है। मनुष्य में अहंकार का भाव इतना रहता है कि उसके ऊपर उठ नहीं पाता। मानवीय प्रेम के सम्बन्ध टूट जाते हैं। कड़वाहट बढ़ने लगती है। घर का बँटवारा हो जाता है। मित्र भी शत्रु हो जाते हैं। ये भावनाएँ समूह तथा व्यक्ति – दोनों के स्तरों पर होती है। समाज इससे टूटने लगता है। व्यक्ति बिखरने लगता है।

दुनिया की प्रवृत्ति अनूठी है। वह न दायें चलती है, न बायें। वह न सीधी चलती है, न उल्टी। सीधा चलने पर 'बुद्धू' समझा जाता है और उल्टा चलने पर जीवन दुर्लभ। द्वन्द्व से क्या मिलता है – जीवन की इतिश्री। हासिल आया – शून्य। द्वन्द्व से, विरोध से कुछ लोगों को आनन्द आता है। तमाशा देखनेवाले प्रफुल्लित होते हैं। पश्चिमी देशों में साँड़ों की लड़ाई से मनोरंजन होता है। अपने देश में तीतर-बटेर और मुर्गों की लड़ाइयाँ देखते हैं। हर्ष का पारावार नहीं रहता। भैंसे लड़ते हैं। निष्कर्ष क्या होता है? मनुष्य भी यदि इसी प्रकार लड़े, तो उसके जीवन की सार्थकता क्या है? उपयोगिता क्या है? उद्देश्य क्या है? बिल्लियों को आपस में लड़ाकर अपना उल्लू सीधा करनेवाले कितनी देर के लिये प्रसन्न रहते हैं? कुछ अपनी आन-बान-शान के लिये ही लड़ते हैं। पुराने जमाने में अपनी मूँछों पर ताव देने के लिये ही लड़ते थे। बनिये को आर्थिक लाभ अवश्य मिलता था। मिथ्या अहंकार के लिये लोग झगड़ा करते हैं। अहम् की सन्तुष्टि के लिये विरोध करते हैं। उससे लाभ क्या निकलता है? विरोध महत्त्वहीन है। अविरोध वृत्ति में ही जीवन की सार्थकता है। यह जीवन का मूल-मंत्र है।

अविरोध वृत्ति निषेधात्मक वृत्ति नहीं है। यह सकारात्मक भाव है। जीवन के प्रति सही सोच, सही दृष्टि है। जीवन के प्रति आकर्षण, प्रेम और उत्साह है। यह पलायन वृत्ति नही है। हिंसक वृत्ति से जीवन में कलह, असन्तोष, अशान्ति तथा सृजन का अभाव होता है। अविरोध वृत्ति का अर्थ है सृजनात्मकता, नूतन निर्माण, गम्भीर चिन्तन, आत्म-निर्माण एवं अभिव्यक्ति की अप्रतिहत क्रिया। विरोध से विरोध शान्त नहीं होता; अपितु उग्र होता है **– न हि वैरेण वैरं हि शाम्यति कदाचन।**

अविरोध का अभिप्राय किंपुरुषता तथा कायरता नहीं है। यह सत्य और अहिंसा का मार्ग है। महावीर स्वामी, भगवान बुद्ध, सन्त कबीर, गुरु नानक, महात्मा गाँधी, श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द आदि महापुरुषों ने जीवन में इसका प्रयोग किया है और उसे सत्यापित कर इसकी प्रमाणिकता सिद्ध की है। इस वृत्ति से जीवन में कुण्ठायें नहीं होतीं। वैकुण्ठ – कुण्ठाविहीन जीवन स्वर्ग बन जाता है। ऐसा व्यक्ति किसी का उपकार तथा प्रतिकार नहीं करता। सहजता, सरलता और सेवा-भाव उसका स्वभाव बन जाता है। यह जीवन की कला है। यह पूर्ण है, जीवन का निचोड़ है।

मध्य मार्ग उचित है। भगवान बुद्ध ने इस मार्ग का निर्देश किया था। भगवान कृष्ण ने इसका उपदेश किया था। उसे मनुष्य के लिये उत्तम बताया था। इसमें शत्रु और मित्र दोनों ही समान होते हैं। वह न किसी से द्वेष करता है न अनुराग। उसकी किसी के प्रति आसक्ति नहीं होती। मित्र और शत्रु सभी को समान समझता है। वह सम्पूर्ण प्राणियों का अभिनन्दन करता है। वह सम है। अपनी आत्मा के समान सभी के प्रति व्यवहार करता है। वह समबुद्धि है। ऐसा चरित्र संसार में कठिन अवश्य है, परन्तु उसका अनुवर्तन करना कठिन नहीं है। यह तो साधना है। जो जितनी ही साधना करेगा उतना ही आनन्द के सागर में पैठ करेगा। यह साधनात्मक पक्ष है। जीवन का उत्तम मार्ग है। ❑❑❑

स्मरण-शक्ति को बढ़ाने के उपाय

स्वामी निर्विकारानन्द

जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिए अच्छी स्मरण-शक्ति का होना परम आवश्यक है। विभिन्न उपायों का आश्रय लेकर बारम्बार अभ्यास के द्वारा स्मरण-शक्ति तथा मानसिक एकाग्रता में वृद्धि की जा सकती है। यहाँ ऐसे ही कुछ उपायों पर विचार किया गया है –

(१) मानसिक व्यायाम : जिस प्रकार हम अपने शरीर को स्वस्थ रखने के लिए विभिन्न प्रकार के व्यायाम अथवा खानपान करते हैं, ठीक उसी प्रकार स्मृति-शक्ति बढ़ाने के लिए भी हमें मानसिक व्यायाम करने चाहिये।

यह व्यायाम इस प्रकार किया जा सकता है – मान लीजिए हम किसी शब्द का अर्थ भूल गये, तो उसका अर्थ जानने या समझने के लिए तत्काल शब्दकोश की ओर दौड़ने की बजाय हमें गहन चिन्तन करना चाहिये। कुछ काल तक चिन्तन के बाद उसका अर्थ याद हो आने पर हमें बड़ा आश्चर्य होगा। इस अभ्यास के द्वारा हमारी स्मरण-शक्ति क्रमशः बढ़ती चली जायेगी। स्वामी विवेकानन्द का कहना है, "केवल प्रयत्न और उद्यम करो, वे सब ऊपर उठ आयेंगे और तुम अपने पूर्वजन्मों का भी ज्ञान प्राप्त कर सकोगे।"

(२) मन की शान्ति : प्रायः हम देखते हैं कि जब हम मानसिक अशान्ति का बोध करते हैं या जब हमारा मन चंचल होता है, तब हमारा मन ठीक से कार्य नहीं करता। जैसे तालाब में एक पत्थर फेंकने से बुलबुले इत्यादि उठने लगते हैं और पानी अशान्त हो जाने के कारण हम तालाब का तल नहीं देख पाते, ठीक वैसे ही हमारा मन भी तनाव के समय गहन चिन्तन करने में असमर्थ रहता है। अतः स्मरण-शक्ति बढ़ाने के लिए मन को शान्त रखना अत्यन्त आवश्यक है। ध्यान मन की एकाग्रता बढ़ाने का सबसे उत्तम साधन है।

(३) हमारी रुचियाँ - जिन विषयों में हमारी रुचि होती है, वे चीजें हमें अनायास ही याद हो जाती हैं और जिसमें हमारी रुचि नहीं होती, उसे हम शीघ्र भूल जाते हैं। जैसे आज के युवकों को क्रिकेट मैच में किस खिलाड़ी ने कितने रन बनाये या विकेट लिए या फिल्म देखकर उसकी पूरे तीन घण्टे की कहानी सहज ही याद हो जाती है। इसके विपरीत जिन विषयों में उन्हें रुचि नहीं होती, उन्हें याद करने में विशेष परिश्रम करना पड़ता है। अतः स्मरण-शक्ति बढ़ाने के लिए हमें उपयोगी विषयों में रुचि ब्ढ़ानी होगी।

(४) ब्रह्मचर्य : विख्यात मनोवैज्ञानिक सी.जी.युंग बताते हैं कि प्रत्येक विचार के पीछे ऊर्जा है और जब यह ऊर्जा समाप्त हो जाती है, तो विचार भी गायब-सा हो जाता है। हमारे मन को भी सुचारु रूप से कार्य करने के लिए ऊर्जा की जरूरत होती है और यह ऊर्जा हमें पवित्रता से मिलती है। अपवित्र जीवन बिताकर हम अपनी बहुत-सी ऊर्जा नष्ट कर डालते हैं। ब्रह्मचर्य का पालन करने से हमें अद्भुत ऊर्जा की उपलब्धि होती है। और इस ऊर्जा की सहायता से हम पुरानी घटनाओं तथा विचारों को दर्पण पर प्रतिबिम्ब के समान स्पष्ट रूप से अपने मानस-पटल पर ला सकते हैं।

प्रश्न उठता है कि ब्रह्मचर्य क्या है? ब्रह्मचर्य का अर्थ है – अपनी समस्त इन्द्रियों तथा मन को सयमित करके उत्तम विषयों में नियोजित करना। अनेक वैज्ञानिक, कलाकार, लेखक, चिन्तक आदि जब पूरी निष्ठा तथा एकाग्रता के साथ अपने कार्य में लग जाते हैं, तो महीनों तक उनके मन में कोई काम-वासना या विकार नहीं आते। मन को विकारों से मुक्त बनाने के लिए मनुष्य को सर्वदा किसी-न-किसी रचनात्मक कार्य में व्यस्त रहना चाहिए, क्योंकि खाली दिमाग शैतान का कारखाना होता है। भगवान का भजन आदि भी हमें मन की कुवृत्तियों से काफी बचा सकता है, जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है –**जहाँ राम तहाँ काम नहीं, जहाँ काम नहीं राम।**

श्रीरामकृष्ण के एक प्रमुख शिष्य स्वामी ब्रह्मानन्द जी कहते हैं, "देह, मस्तिष्क और मन के पूर्ण विकास तथा तेजस्विता के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है। अखण्ड ब्रह्मचर्य पालन करने से अत्यन्त तीक्ष्ण मेधा तथा स्मरण-शक्ति का विकास होता है। ब्रह्मचर्य से एक विशेष नाड़ी विकसित होती है, जिससे ऐसी अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। क्या तुम जानते हो, हमारे महान् आचार्यों ने ब्रह्मचर्य को इतना अधिक महत्त्व क्यों दिया है? वह इसलिए कि इससे असफल होने पर मनुष्य का सब कुछ नष्ट हो जाता है। अखण्ड ब्रह्मचारी वीर्य का क्षय नहीं करता। वह पहलवान जैसा भले ही न दिखे, पर उसके मस्तिष्क का विकास अत्यन्त सूक्ष्म होता है और उसमें अतीन्द्रीय रहस्यों को समझने और ग्रहण करने की अद्भुत क्षमता आ जाती है।" ब्रह्मचर्य की शक्ति के विषय में स्वामी विवेकानन्द के जीवन की एक घटना उल्लेखनीय है –

नवनिर्मित बेलूड़ मठ में अनेक खण्डों का एक नया अंग्रेजी विश्वकोष (Encyclopaedia Britannica) खरीदा गया था। स्वामी विवेकानन्द जी को उन्हें पढ़ते देख उनके शिष्य शरच्चन्द्र ने कहा, "इतनी पुस्तकें एक जीवन में पढ़ना कठिन है।" उस समय शरच्चन्द्र को मालूम नहीं था कि इसी बीच स्वामीजी ने उसके दस खण्डों का अध्ययन समाप्त कर ग्यारहवाँ खण्ड आरम्भ कर दिया है।

स्वामीजी – क्या कहता है? इन दस खण्डों में से जो चाहे मुझसे पूछ ले - सब बता दूँगा।

शिष्य ने विस्मित होकर पूछा, "क्या आपने इन सभी खण्डों को पढ़ लिया है?"

स्वामीजी - क्या बिना पढ़े ही कह रहा हूँ?

इसके बाद स्वामीजी का आदेश पाकर शिष्य उन सभी ग्रन्थों से चुन-चुनकर कठिन विषयों को पूछने लगा। आश्चर्य है कि स्वामीजी ने उन सब विषयों का मर्म तो कहा ही, साथ ही कहीं कहीं पुस्तक की भाषा भी उद्धृत की। शिष्य ने उस विराट् दस खण्डों की ग्रन्थमाला में से प्रत्येक खण्ड से दो-एक विषय पूछे और स्वामीजी की असाधारण बुद्धि तथा स्मरण-शक्ति देखकर विस्मित होकर सभी पुस्तकों को उठाकर रखते हुए उसने कहा, "यह मनुष्य की शक्ति नहीं है।"

स्वामीजी – देखा, एकमात्र ब्रह्मचर्य का ठीक ठीक पालन कर पाने से सभी विद्याएँ क्षण भर में याद हो जाती हैं – मनुष्य श्रुतिधर, स्मृतिधर बन जाता है। ब्रह्मचर्य के अभाव से ही हमारे देश का सब कुछ नष्ट हो गया।

(५) अभ्यास यदि हम सफल होना चाहते हैं, तो हमें स्मरण करने का निरन्तर अभ्यास करना पड़ेगा। सतत प्रयत्न के बिना हम सफल नहीं होंगे, क्योंकि हमारा मन शुद्ध नहीं है। यहाँ प्रश्न उठता है कि मन की शुद्धि का क्या उपाय है? उपाय यह है कि हमें अनावश्यक चीजों को छोड़कर आवश्यक चीजें ही याद रखनी होंगी। हमें अपनी रुचियों को सीमित तथा विचारों को सुव्यवस्थित करना होगा। ऐसा करने से हमारी स्मरण-शक्ति अच्छी रहेगी तथा हम किसी भी परिस्थिति के स्वामी होंगे और हमें सर्वत्र सफलता ही हाथ लगेगी। इससे हमारा जीवन भी सार्थक हो जायेगा।

वैज्ञानिकों के मतानुसार मनुष्य अपने जीवन-काल में अपने मन की क्षमता का केवल दस प्रतिशत भाग ही उपयोग कर पाता है। अतः हमें इसके अधिकाधिक उपयोग के लिए भरपूर प्रयास करने चाहिए और इस प्रकार अपना जीवन सफल तथा सार्थक बना लेना चाहिए।

(६) एकाग्रता : स्मरण-शक्ति बढ़ाने में एकाग्रता का महत्वपूर्ण योगदान है। बिखरे हुए विचारों को एकत्रित करके एक वस्तु पर लगाने का नाम एकाग्रता है। इस सम्बन्ध में महाभारत में एक कथा आती है –

जब कौरव तथा पाण्डव राजकुमार आचार्य द्रोण के पास अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा ले रहे थे, तभी एक दिन आचार्य ने शिष्यों की परीक्षा लेने का निश्चय किया। उन्होंने बढ़ई को बुलाकर काठ का एक पक्षी बनवाया। वह पक्षी देखने में जीते-जागते पक्षी के ही समान लगता था। आचार्य ने उसे एक ऊँचे वृक्ष की ऊपरी टहनी पर लगवा दिया और अगले दिन शिष्यों को उस वृक्ष के निकट समवेत होने का आदेश दिया। शिष्यगण जब एकत्र हो गये, तो आचार्य ने उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा – "आज तुम लोगों की परीक्षा होगी। सामने के वृक्ष पर एक पक्षी बैठा है, तुम्हें अपने बाण से उसका सिर भेदना है। मैं जिसे बुलाऊँ, वह सामने आकर खड़ा हो जाये और अपने धनुष से निशाना साधे; फिर जब मेरी आज्ञा हो तो बाण चलाये।"

आचार्य ने एक एक कर सभी राजकुमारों को बुलाकर पूछा, "वत्स, तुम्हें क्या दिखाई दे रहा है?" उत्तर मिला, "हमें वृक्ष, पक्षी और आप दिखाई दे रहे हैं।" किसी के भी उत्तर से आचार्य सन्तुष्ट नहीं हुए। अन्त में उन्होंने अपने प्रिय शिष्य अर्जुन को बुलाया और उन्हें भी तीर सन्धान करने का आदेश देने के बाद पूछा, "वत्स, तुम्हें क्या दिखाई दे रहा है?" अर्जुन ने कहा, "गुरुदेव, मुझे तो पक्षी का सिर तथा बाण की नोंक के अतिरिक्त और कुछ नहीं दीख रहा है।" आचार्य के आदेश पर अर्जुन ने तीर चलाया और वह जाकर ठीक लक्ष्य में बिंध गया।

उपरोक्त कथा से स्पष्ट हो जाता है कि अन्य राजकुमारों का मन एकाग्र नहीं था। परन्तु अर्जुन के एकाग्रचित्त होने के कारण उन्हें केवल पक्षी का सिर ही दिखाई दे रहा था। हम भी यदि नियमित रूप से एकाग्रता का अभ्यास करें, तो अवश्य ही अपने लक्ष्य को भेद सकेंगे अर्थात् काम की चीजों को अधिकाधिक स्मरण रख सकेंगे। स्मरण-शक्ति को बढ़ाने के लिए एकाग्रता का अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है। एक साथ बहुत-सी बातें सोचने पर कुछ भी याद नहीं रहता, इसलिए एक समय में एक ही विषय या कार्य पर मन को नियोजित करना चाहिए। कबीरदास जी कहते हैं –

एकै साधे सब सधे, सब साधे सब जाय।
जो तू सींचे मूल को फूले-फले अघाय॥

(विवेक-ज्योति के प्रारम्भिक वर्षों में प्रकाशित पाठकों के प्रश्न तथा तत्कालीन सम्पादक ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी के उत्तर। – सं.)

आध्यात्मिक-प्रश्नोत्तरी

२२. प्रश्न – *क्या जीवन का कोई प्रयोजन है? यदि है तो वह क्या है और उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है?*

उत्तर – जीवन का अवश्य एक प्रयोजन है और वह है निहित शक्तियों की अभिव्यक्ति। मनुष्य में ब्रह्मभाव या ईश्वरत्व निहित है। उसे प्रकट करना जीवन का लक्ष्य है। मानव-मन जितना अन्तर्मुखीन और एकाग्र होता है, उसे जीवन के इस लक्ष्य की उतनी प्रतीति होती है।

२३. प्रश्न – *मन की चंचलता से कैसे निपटे?*

उत्तर – आत्मविचार या भगवान की भक्ति से। चिन्तन-प्रधान लोग इसके लिए आत्मविचार का सहारा लेते हैं और भाव-प्रधान लोग भगवान की भक्ति का।

२४. प्रश्न – *क्या आध्यात्मिक जीवन में गुरु का होना अनिवार्य है? यदि है तो उचित गुरु कहाँ और कैसे मिलेंगे? कहते हैं कि परखकर गुरु बनाना चाहिए, पर हममें इतनी शक्ति कहाँ कि गुरु को परख सकें?*

उत्तर – प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए एक मार्ग-दर्शक की आवश्यकता होती है। आध्यात्मिक जीवन में भी यही नियम लागू होता है। मार्गदर्शक वह होता है जो स्वयं उस रास्ते से आगे बढ़ा होता है। गुरु उसे कहते हैं जो स्वयं अध्यात्म के रास्ते आगे गया हुआ होता है और जो अपने अनुभव का लाभ दूसरों को भी दे सकता है।

गुरु को परखना कठिन बात है। साधारणतया हममें इतनी क्षमता नहीं होती कि अध्यात्म की गहराई को समझ सकें। पर एक साधारण-सा नियम यह है कि जिस व्यक्ति को हम गुरु के रूप में ग्रहण करना चाहते हैं, उसके जीवन को थोड़े निकट से देखने का प्रयत्न जरूर करें। तन, मन व वचन से पवित्रता – इतना तो कम-से-कम आध्यात्मिक गुरु में होना ही चाहिए।

जहाँ तक गुरु को खोजने का प्रश्न है, एक आध्यात्मिक नियम अनिवार्य रूप से कार्य करता है; वह यह कि जब हममें गुरु पाने की सच्ची आकुलता होती है, जब लगता है कि बिना किसी पथप्रदर्शक के हमारा जीवन मानो अँधेरे में टटोलने के समान है, तब हमारे जीवन में ऐसा कोई व्यक्ति आ ही जाता है, जिसके सहारे हम आगे बढ़ने में सक्षम होते हैं।

२५. प्रश्न – *कहा जाता है कि ईश्वर-कृपा बिना कुछ भी नहीं होता। तो क्या पुरुषार्थ का कोई महत्त्व नहीं है?*

उत्तर – पुरुषार्थ और ईश्वर-कृपा में कोई विरोध नहीं है। जो विरोध देखते हैं उन्होंने गलत समझा है। पुरुषार्थ से ईश्वर-कृपा का लाभ होता है और उससे कार्य की सिद्धि होती है। जो पुरुषार्थी नहीं है, उसे भगवान की कृपा से वंचित रह जाना पड़ता है। श्रीरामकृष्ण देव कहा करते थे – भगवान की कृपा-रूपी वायु हरदम बह रही है। वह सब पर समान रूप से बहती है। जैसे नौकावाला, जब वह पाल तान देता है तो वह समान रूप से बहनेवाली हवा को अधिक मात्रा में ग्रहण करता है। उसी प्रकार, पुरुष अपना पाल तान कर अर्थात् पुरुषार्थ प्रकट कर सर्वत्र समान रूप से विद्यमान इस भगवत्कृपा का अधिकारी बनता है।

प्रश्न भगवान की ओर से देने का नहीं; उनकी कृपा तो सदैव प्राप्य है। प्रश्न है अपनी ओर ग्रहण करने का, उनकी कृपा की विद्यमानता को अनुभव करने का। और यहीं पर पुरुषार्थ का प्रयोजन सिद्ध होता है।

२६. प्रश्न – *श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि किसी को गुरु बनाने के पूर्व उसकी भलीभाँति जाँच कर लेनी चाहिए। पर धर्मक्षेत्र में अनजान हमारे लिए यह भला कैसे सम्भव है?*

उत्तर – आपका प्रश्न उचित है। किसी की जाँच करना सरल नहीं। फिर, आध्यात्मिकता एक ऐसी चीज है जिसको मापने के लिए कोई यंत्र नहीं है। तथापि कुछ मोटी बातें हैं जिनके आधार पर आप गुरु का चुनाव कर सकते हैं – (१) गुरु का चरित्र अच्छा हो। इसका तात्पर्य यह है कि वे अनैतिक प्रवृत्तियों और अन्य दुष्कर्मों से सर्वथा रहित हों।

(२) गुरु निःस्पृह हों। उनमें लालच न हो। उनके पास बैठने से 'पैसे' 'पैसे' की पुकार न सुनाई दे।

(३) गुरु की वाणी और कर्म – कथनी और करनी में भेद न हो। जो व्यक्ति उपदेश में एक बात कहे और आचरण में उसके विपरीत करे, वह गुरु बनने का अधिकारी नहीं है।

(४) गुरु निन्दापरायण न हों। जो व्यक्ति दूसरों की निन्दा करने में रस लेता है और अकारण ही अन्य साधुओं, सन्तों एवं महानुभावों की निन्दा करता है, उसे कदापि गुरु रूप में वरण नहीं करना चाहिए।

२७. प्रश्न – *क्या पुनर्जन्म की बातें सत्य हैं? विज्ञान के आधार पर इसका कैसे मूल्यांकन किया जा सकता है?*

उत्तर – हाँ, पुनर्जन्म की बातें सत्य हैं। हम आये दिन ऐसी घटनाओं के सम्बन्ध में पढ़ा करते हैं जिनमें बच्चे अपने पिछले जन्म की बातें बता देते हैं। जाँच करने पर ये बातें अधिकांशत: ठीक निकली हैं। इस विषय पर विशेष शोध हेतु जयपुर में एक पैरासाइकोलोजी का विभाग खुला है। इस विभाग में वैज्ञानिक आधार पर पुनर्जन्म की घटनाओं को समझने का प्रयास किया जा रहा है। आप विभाग के निदेशक से सम्पर्क साधें। वहाँ से प्रकाशित पत्रिका पढ़ें।

२८. प्रश्न – *क्या आध्यात्मिक उन्नति के लिए अविवाहित रहना जरूरी है?*

उत्तर – ब्रह्मचर्य के पालन से आध्यात्मिक उन्नति में सहायता मिलती है।

२९. प्रश्न – *भारत के धर्मग्रन्थों में नारी की इतनी निन्दा क्यों की है? क्या आप भी ऐसे कथनों से सहमत हैं कि नारी नरक की द्वार है?*

उत्तर – नहीं, हम ऐसे कथनों से सहमत नहीं हैं। नारी शक्ति है, जगदम्बा का स्वरूप है। उसकी प्रसन्नता व्यक्ति, परिवार और समाज का निर्माण करती है। उसकी आह समाज की जड़ों को सुखा देती है। जिन धर्मग्रन्थों में नारी की निन्दा है, वे दुराग्रह से पीड़ित हैं। ऐसे ही ग्रन्थों और विचारों ने हिन्दू धर्म को खोखला बना दिया है।

३०. प्रश्न – *कर्म और अकर्म में विवेक कैसे किया जाए? जब स्वयं भगवान कृष्ण गीता में कहते हैं कि 'कर्म की गति गहन है' तथा 'विद्वत् जन भी इस सम्बन्ध में भ्रमित हैं', तब हम जैसे साधारण व्यक्ति इसके तत्त्व को कैसे समझें? गीतोक्त कर्म, अकर्म और विकर्म का क्या तात्पर्य है?*

उत्तर – यह सत्य है कि कर्म, और अकर्म का तत्त्व गहन है। गीता में कर्म, अकर्म और विकर्म क्रमश: कर्तव्य या करणीय कर्म, आलस्य, जड़ता और तमोगुण प्रधान कर्म या विपरीत या निषिद्ध कर्म के अर्थ में आया है। हमें निषिद्ध कर्मों से बचना चाहिए। इसी प्रकार हमें जड़ता और तम: प्रधान कर्मों से भी दूर रहना चाहिए। निषिद्ध कर्म यानी विकर्म का ज्ञान नीति, धर्म और आचार के बल पर होता है। नैतिक गिरावट विकर्म की देन है। निठल्ला और अकर्मण्य रहने का भाव तमोगुण का लक्षण है और इसलिए अकर्म की देन है। हमें दोनों से बचना है और करणीय कर्म करने हैं। करणीय कर्म यानी ऐसे कर्म जो हमारे कर्तव्य के अन्तर्गत आते हैं। हम जिस स्थिति में हों, उसमें हमारा जो कर्तव्य है, वह कर्म है। उदाहरण के लिए, यदि मैं शिक्षक हूँ तो शिक्षण मेरा कर्म है। अपने विद्यार्थियों से पक्षपात और अनुचित लाभ उठाने का प्रयत्न विकर्म है। अपने कर्तव्य में टाल-मटोल करूँ, शिक्षण-कार्य से जी चुराऊँ तो वह अकर्म है। यदि मैं व्यापारी हूँ तो ईमानदारी करना मेरा कर्म है; चोरी-बेईमानी और कालाबाजारी करना विकर्म है; तथा काम से जी चुराना, नशा या अन्य तमोगुणी भावों में डूबकर निठल्ले बैठे रहना अकर्म है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए कर्म, विकर्म और अकर्म का अर्थ निश्चित कर सकता है। गीता का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को विकर्म और अकर्म से दूर रहना चाहिए तथा कर्म को ईश्वर समर्पित बुद्धि से यानी फलाफल ईश्वर पर डाल कर करना चाहिए।

३१. प्रश्न – *क्या आप अंग्रेजी भाषा में कोई ऐसी पुस्तक बता सकते है जो हिन्दू धर्म के प्रमुख सिद्धान्तों को सरलता से समझाती हो?*

उत्तर – स्वामी निर्वेदानन्द लिखित 'Hinduism at a glance' (हिन्दूधर्म की रूपरेखा) से आपका प्रयोजन सिद्ध हो सकता है। इस पुस्तक में हिन्दू धर्म के विभिन्न पक्षों की सुन्दर चर्चा की गई है। साधारण जन भी उससे लाभ उठा सकते हैं।

❖ (क्रमश:) ❖

उत्तम स्वास्थ्य के उपाय (४)

❑ सुबह नाश्ते में बिना दूध का हल्का चाय लिया जा सकता है। बार बार चाय या कॉफी पीना स्वास्थ्य के लिये हानिकर है। इससे भूख न लगना तथा पेट के अन्य रोग हो सकते हैं और साथ ही यकृत खराब हो सकता है। कॉफी न पीना ही वांछनीय है।

❑ आजकल स्नान के समय साबुन तथा शैम्पू का अत्यधिक प्रयोग किया जाता है। पहले स्नान के पूर्व शरीर पर सरसों का तेल मलने की प्रथा थी। बच्चों को तेल मलकर धूप में सेंक कराते थे। शरीर पर भलीभाँति शुद्ध सरसों का तेल मलने से रोमछिद्र स्निग्ध व सतेज हो जाते हैं, जिससे शरीर के भीतर स्थित दूषित पदार्थ बाहर निकल जाते हैं और शरीर स्वच्छ हो जाता है।

❑ निम्न स्तर के रासायनिक पदार्थों वाले साबुन से रोमछिद्र शुष्क हो जाते हैं। चर्मरोगी को सदा चिकित्सक के सलाह से ही साबुन का चयन करना चाहिये। नहीं तो चर्मरोग जटिल एवं असाध्य बन सकता है।

❑ स्नान के समय गमछे या तौलिये को भिगोकर उससे अच्छी तरह मलकर शरीर को साफ करना चाहिये। इससे शरीर का मैल निकल जायेगा और साथ ही स्नायुएँ भी सबल होंगी। ❖ (क्रमश:) ❖

अध्यारोप की सीमा

एतेषां स्थूल-सूक्ष्म-कारण-प्रपञ्चानाम् अपि समष्टिः एको महान्-प्रपञ्चो भवति यथा अवान्तर-वनानां समष्टिः एकं महद्-वनं भवति यथा वा अवान्तर-जलाशयानां समष्टिः एको महान् जलाशयः ।।११८।।

– जैसे अलग अलग वनों की समष्टि से एक महावन होता है अथवा जैसे अलग अलग जलाशयों की समष्टि से एक महा जलाशय बनता है, वैसे ही इन स्थूल-सूक्ष्म-कारण प्रपंचों (जगतों) की समष्टि से भी एक महाप्रपंच (ब्रह्माण्ड) बनता है।

एतत्-उपहितं वैश्वानर-आदि ईश्वर-पर्यन्तं चैतन्यम् अपि अवान्तर-वन-अवच्छिन्न-आकाशवत् अवान्तर जलाशय-गतप्रतिबिम्ब-आकाशवत् च एकम् एव ।।११९।।

– जैसे अलग अलग वनों से आच्छादित आकाश तथा अलग अलग जलाशयों में प्रतिबिम्बित आकाश एक ही हैं, वैसे ही वैश्वानर आदि (स्थूल समष्टि) से लेकर ईश्वर (कारण समष्टि) तक का उपाधियुक्त चैतन्य भी एक ही है।

आभ्यां महा-प्रपञ्च-तद्-उपहित-चैतन्याभ्यां तप्त-अयःपिण्डवत् अविविक्तं सत् अनुपहितं चैतन्यं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति वाक्यस्य वाच्यं भवति, विविक्तं सत् लक्ष्यम् अपि भवति ।।१२०।।

– तप्त लौहपिण्ड के समान महाप्रपंच (ब्रह्माण्ड) तथा उस उपाधि से युक्त चैतन्य एक साथ मिलकर "यह सब कुछ ब्रह्म ही है" (छा. उ. ३/१४/१) इस महावाक्य का वाच्यार्थ तथा उपाधिरहित होकर लक्ष्यार्थ भी बनता है।

एवं वस्तुनि अवस्तु-आरोपो अध्यारोपः सामान्येन प्रदर्शितः ।।१२१।।

– इस प्रकार वस्तु (चैतन्य, ब्रह्म) में अवस्तु (प्रपंच) के आरोप के रूप में 'अध्यारोप' सामान्य रूप से दिखाया गया।

अध्याय ३

जीव तथा अध्यारोप

चार्वाक मत

इदानीं प्रत्यगात्मनि 'इदम्' 'इदम्' 'अयम्' अयम्' आरोपयति इति विशेषत उच्यते ।।१२२।।

– अब विशेष रूप से यह बताया जायेगा कि किस प्रकार (अज्ञानी) लोग इस अन्तरात्मा पर (पुत्र, देह आदि के रूप में) विविध प्रकार से 'मैं यह हूँ, मैं यह हूँ' का आरोपण करते हैं।

अतिप्राकृतः तु 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इत्यादिश्रुतेः स्वस्मिन् इव पुत्रे अपि प्रेमदर्शनात् पुत्रे पुष्टे नष्टे च अहम् एव पुष्टो नष्टः च इत्यादि अनुभवात् च पुत्र आत्मा इति वदति ।।१२३।।

– अति प्राकृत (स्थूल बुद्धि के) लोग "स्वयं ही पुत्र के रूप में जन्म लेता है" (कौशीतकी उ. २/११) – आदि श्रुतियों; अपने ही समान पुत्र पर भी प्रेम उमड़ते देखकर (इस युक्ति) और पुत्र के पुष्ट या नष्ट होने पर स्वयं के ही पुष्ट या नष्ट होने आदि अनुभव के आधार पर पुत्र को ही आत्मा कहते हैं।

चार्वाकः तु 'स वा एष पुरुषः अन्नरसमयः' इत्यादि-श्रुतेः प्रदीप्तगृहात् स्वपुत्रं परित्यज्य अपि स्वस्य निर्गम-दर्शनात् 'स्थूलोऽहं' 'कृशोऽहं' इत्यादि अनुभवात् च स्थूलशरीरं आत्मा इति वदति ।।१२४।।

– फिर चार्वाक मतावलम्बी भी "यह अन्न-रसमय पुरुष ही आत्मा है" (तै.उ. २/१/१) आदि श्रुतियों; लोगों को जलते हुए घर से पुत्र को भी छोड़कर भागते हुए अपनी जान बचाते देखकर (इस युक्ति) और 'मैं मोटा हूँ', 'मैं दुबला हूँ' आदि अनुभूतियों के आधार पर 'स्थूल देह' को ही आत्मा कहते हैं।

अपरः चार्वाकः "ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरम् इति ऊचुः" इत्यादि-श्रुतेः इन्द्रियाणाम् अभावे शरीर-चलन-अभावात् 'काणोऽहं' 'बधिरोऽहं' इत्यादि अनुभवात् च इन्द्रियाणि आत्मा इति वदति ।।१२५।।

– अन्य चार्वाक मतावलम्बी "इन्द्रियाँ अपने पिता प्रजापति के पास जाकर बोलीं" (छा. उ. ५/१/७) आदि श्रुतियों; इन्द्रियों के अभाव में शरीर कार्य नहीं करता (इस युक्ति) और 'मै काना हूँ', 'मैं बहरा हूँ' आदि अनुभूतियों के आधार पर 'इन्द्रियों' को ही आत्मा कहते हैं।

अपरः चार्वाकः 'अन्यः अन्तरात्मा प्राणमयः' इत्यादि-श्रुतेः प्राण-अभावे इन्द्रिय-आदि-चलन-अयोगात् 'अहम् अशनायावान्' 'अहं पिपासावान्' इत्यादि अनुभवात् च प्राण आत्मा इति वदति ।।१२६।।

– अन्य चार्वाक मतावलम्बी "(स्थूल शरीर से भिन्न) दूसरी अन्तरात्मा प्राणमय है" (तै. उ. २/१/१) आदि श्रुतियों; श्वसन क्रिया के अभाव में इन्द्रियाँ भी निष्क्रिय हो जाती हैं (इस युक्ति) और 'मैं भूखा हूँ', 'मैं प्यासा हूँ' आदि अनुभूतियों के आधार पर भी 'प्राण' को ही आत्मा कहते हैं।

अन्य: तु चार्वाक: 'अन्य: अन्तरात्मा मनोमय:' इत्यादि-श्रुते: मनसि सुप्ते प्राणादे: अभावात् 'अहं सङ्कल्पवान्' 'अहं विकल्पवान्' इत्यादि अनुभवात् च मन आत्मा इति वदति ।।१२७।।

– अन्य चार्वाक मतावलम्बी (प्राण से भिन्न) "दूसरी अन्तरात्मा मनोमय है" (तै. उ. २/३/१) आदि श्रुतियों; मन के सो जाने पर प्राणों का अभाव हो जाता है (इस युक्ति) और 'मैं संकल्प करता हूँ', 'मैं विकल्प करता हूँ' आदि अनुभूतियों के आधार पर 'मन' को ही आत्मा कहते हैं।

बौद्ध-मत

बौद्धस्तु 'अन्य: अन्तरात्मा विज्ञानमय:' इत्यादि-श्रुते: कर्तु: अभावे करणस्य शक्ति-अभावात् 'अहं कर्ता' 'अहं भोक्ता' इत्यादि अनुभवात् च बुद्धि: आत्मा इति वदति ।।१२८।।

– बौद्ध मतावलम्बी (मन से भिन्न) "दूसरी अन्तरात्मा विज्ञानमय है" (तै. उ. २/४/१) आदि श्रुतियों; कर्ता के अभाव में करण (मन तथा इन्द्रियाँ) अशक्त हो जाते हैं (इस युक्ति) और 'मैं कर्ता हूँ', 'मैं भोक्ता हूँ' आदि अनुभूतियों के आधार पर 'बुद्धि' को ही आत्मा कहते हैं।

प्राभाकर-तार्किकौ तु 'अन्य: अन्तरात्मा आनन्दमय:' इत्यादि-श्रुते: बुद्धि-आदीनाम् अज्ञाने लयदर्शनात् 'अहम् अज्ञ:' 'अहम् अज्ञानी' इत्यादि अनुभवात् च अज्ञानम् आत्मा इति वदत: ।।१२९।।

– प्रभाकर के अनुयायी (मीमांसक) तथा न्यायवादी "(बुद्धि से भी भिन्न) दूसरी अन्तरात्मा आनन्दमय है" (तै. उ. २/५/१) आदि श्रुतियों; सुषुप्ति-अवस्था में बुद्धि आदि अज्ञान में लय हो जाते हैं (इस युक्ति) एवं 'मैं अज्ञ हूँ', 'मैं अज्ञानी हूँ' आदि अनुभूतियों के आधार पर अज्ञान को ही आत्मा कहते हैं।

भाट्ट: तु 'प्रज्ञानघन एव आनन्दमय:' इत्यादि-श्रुते: सुषुप्तौ प्रकाश-अप्रकाश-सद्भावात् 'माम् अहं न जानामि' इत्यादि अनुभवात् च अज्ञाम-उपहितं चैतन्यम् आत्मा इति वदति ।।१३०।।

– कुमारिल भट्ट के अनुयायी (मीमांसक) "(सुषुप्ति अवस्था में) यह आत्मा प्रज्ञानघन और आनन्दमय है" (मा. उ. ५) आदि श्रुतियों; सुषुप्ति की अवस्था में चेतना और अचेतना दोनों की विद्यमानता (इस युक्ति) और 'मैं स्वयं को नहीं जानता' आदि अनुभूतियों के आधार पर 'अज्ञान उपाधियुक्त चैतन्य' को आत्मा कहते हैं।

शून्यवादी

अपरो बौद्ध: 'असद् एव इदम् अग्र आसीत्' इत्यादि-श्रुते: सुषुप्तौ सर्व-अभावात् 'अहं सुषुप्तौ न आसम्' इति उत्थितस्य स्व-अभाव-परामर्श-विषय-अनुभवात् च शून्यम् आत्मा इति वदति ।।१३१।।

– अन्य बौद्ध मतावलम्बी "(सृष्टि के पूर्व) आरम्भ में यह सब केवल असत् ही था" (छा. उ. ६/२/१) आदि श्रुतियों; सुषुप्ति की अवस्था में सब कुछ का अभाव हो जाने (इस युक्ति) और निद्रा से उठे हुए व्यक्ति का यह कहना कि 'सुषुप्ति के समय मेरा अभाव (अस्तित्व-लोप) हो गया था' – इस अनुभूति के आधार पर 'शून्य' को ही आत्मा कहते हैं।

❖ (क्रमश:) ❖
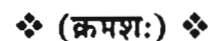
अनमोल बोल

* हमारी सीमाएँ बस वही हैं, जिन्हें स्वयं को न जानने के कारण हम अपने मन में बना लेते हैं।

* भलीभाँति बिताया हुआ आज, प्रत्येक दिन को सुख का सपना बना देता है और हर आनेवाले कल को आशा की चमक से भर देता है।

* यदि भयभीत होना है, तो भय से ही भयभीत होना उचित है।

* प्रभो, अपनी बनाई हुई इस दुनिया को तुम स्वयं ही सुधारो। और शुरुआत मुझसे ही करो।

* मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार परिस्थितियों का चुनाव नहीं कर सकता, पर अपने विचारों का चुनाव वह अवश्य कर सकता है और इस प्रकार अप्रत्यक्ष तथा निश्चित रूप से अपनी परिस्थितियों को वांछित रूप दे सकता है।

* हम अपने को दो चोरों के बीच के सलीब पर टाँग लेते हैं – एक है बीते हुए कल का पछतावा और दूसरा है आनेवाले कल की आशंका।

* लेने की जगह देने में कहीं अधिक सन्तोष होता है और अपने लिए प्रार्थना करने की जगह दूसरों के लिए प्रार्थना करने में अधिक सुख है।

* मनुष्य जिस अनुपात मे दूसरों के साथ समायोजन करके काम कर सकता है, वह उसी अनुपात में मूल्यवान होता है।

* हाथों में अच्छे पत्ते होने में जीवन की सार्थकता नहीं है, बल्कि बुरे पत्तों को अच्छा खेल पाने में है।

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(पत्रों से संकलित)

— १२६ —

भय को पास न फटकने देना। भगवान की शरण लेने पर फिर भय किस चीज का? किसका भय? दूसरे लोगों की बातें छोड़ दो, स्वयं को देखो और भगवान को देखो; और भी यदि देखना हो तो उनके साधु-भक्तों की ओर देखो। व्यर्थ के लोगों को देखकर क्या होगा? इस बात पर दृढ़ विश्वास रखो कि भगवान तुम्हारी रक्षा करेंगे। वे अन्तर्यामी हैं, वे सबके हृदय में निवास करते हैं, तुम्हारे हृदय में भी विद्यमान हैं। पूर्ण के ऊपर आशा रखने पर वह क्या कभी शून्य जाता है? वे सबमें व्याप्त होकर पूर्णभाव मे विद्यमान हैं। शून्य में भी वे पूर्ण हैं।

मैं तुम्हें खूब आशीर्वाद देता हूँ। तुम भगवान के सामने रोओ। उन्हें छोड़कर हमारा दूसरा है ही कौन? उनकी कृपा से सारा भय दूर करो। यह निश्चित रूप से जान लेना कि सबकी रक्षा का भार उन्हीं पर है।

— १२७ —

गुरु और इष्ट अभेद हैं – यह तत्त्व वे ही कृपा करके समझा देते हैं। गुरु ही इष्ट के रूप में प्रतिभात होते हैं अर्थात् गुरु में ही इष्टदर्शन होता है। शक्ति की दृष्टि से दोनों एक हैं, क्रमश: उपासना करते करते इस भाव की उपलब्धि होती है।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरुवे नमः॥[१]

इसी से तात्पर्य समझ लेना। उनके प्रति शुद्धबुद्धि करो तो सभी बन्धन दूर हो जाएँगे।

— १२८ —

तुम निरन्तर इस प्रकार हताशा का ही राग क्यों आलापा करते हो? यह अच्छा नहीं है। बहुत दिनों तक तो तुमने ऐसा किया, कुछ लाभ हुआ क्या? एक बार सम्भव हो तो सुर बदलकर देखो। भगवान पर विश्वास, मानव से प्रेम, अपने कार्य तथा जीवन में दृढ़ता, शास्त्र और साधुवाक्य में श्रद्धा, एक बार करके देखने में कुछ हानि तो है नहीं। ये सब अच्छी चीजें हैं, इसमें भलाई की ही ज्यादा सम्भावना है। एक बार करके देखो; अकारण ही क्यों संशय, सन्देह आदि को प्रश्रय देकर कष्ट उठाते हो। अब तो तुम बच्चे नहीं रह गए, तुम्हें खुद ही सब करना होगा। उद्यम, साहस, बल – यह सब तुम्हारे भीतर ही है, समय आने पर प्रकट और कार्यकर होगा। एक बार कमर बाँधकर काम में लग जाओ।

१. गुरु ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर हैं, गुरु ही परब्रह्म हैं, ऐसे गुरुदेव को मेरा प्रणाम है।

— १२९ —

मुझे ज्ञात नहीं कि 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग' के किस स्थल पर क्या लिखा है, परन्तु ठाकुर कहा करते थे कि उनकी मुक्ति नहीं होगी – यह बात मैंने उन्हीं के श्रीमुख से सुनी है। यहाँ मुक्ति से तात्पर्य निर्वाण-मुक्ति है, जिसमें पुन: संसार में आना नहीं पड़ता। जीवकोटि ही इस संसार-दु:ख से जल-भुनकर, इससे पूर्णतया छुटकारा पाने को पुन: देहधारण करना नहीं चाहते, अत: निर्वाण-कामना करते हैं। निर्वाण का अर्थ है – नि: = नहीं; वान = शरीर। शरीर का न रहना – यही निर्वाण-मुक्ति है। जो परदु:ख से कातर होकर परहित के लिये बारम्बार इस संसार में आते हैं, उनका निर्वाण भला कैसे सम्भव है? इसीलिए ठाकुर ने कहा है कि उनकी मुक्ति नहीं होगी।

फिर उन्होंने स्वामीजी से कहा था – "जो राम जो कृष्ण वे ही इस बार रामकृष्ण, पर तेरे वेदान्तिक दृष्टिकोण से नहीं।" इसका तात्पर्य यह है कि वेदान्त के अद्वैतमत में जीव और ब्रह्म को एक कहते हैं। कोई कोई इसका अर्थ यह लगाते हैं कि सभी लोग राम और कृष्ण इत्यादि हैं, इसमें विशेष बात कुछ भी नहीं है। अत: बाद में कहीं स्वामीजी यह न समझ लें कि ठाकुर ने उसी भाव से "जो राम जो कृष्ण, वे ही इस बार रामकृष्ण," कहा है, इसीलिए ठाकुर ने यह भी कहा – "तेरे वेदान्तिक दृष्टिकोण से नहीं" अर्थात् उनमें ईश्वर-चैतन्य था, जीव-चैतन्य नहीं था। अद्वैतमत में जीव, साधन, भजन, समाधि इत्यादि के द्वारा अज्ञाननिवृत्ति और ब्रह्मज्ञान लाभ कर ब्रह्म के साथ अभिन्न हो सकता है; परन्तु हजार प्रयास करके भी वह ईश्वर नहीं हो सकता। जो ईश्वर हैं, वे चिरकाल के लिए ईश्वर ही हैं। वे मानवदेह धारण कर जीव के समान प्रतीयमान होने पर भी ईश्वर ही रहते हैं, कभी जीव नहीं होते। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं –

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥[२]

इसी प्रकार ठाकुर भी कहते हैं – "तेरे वेदान्तिक दृष्टिकोण से नहीं।" उन्होंने भी श्रीकृष्ण के समान ही कहा है।

२. हे अर्जुन, मेरे और तुम्हारे अनेक जन्म बीत चुके हैं, मैं उन सबको जानता हूँ पर तुम नही जानते। मैं अजन्मा, अविनाशी तथा सभी प्राणियों का ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृति का आश्रय लेकर माया की सहायता से प्रकट होता हूँ। (गीता, ४/५-६)

श्रीरामकृष्ण की वाणी

रात को तुम आकाश में असंख्य तारे दिखते हैं, परन्तु सूर्य उगने के बाद नहीं दिखते। तो क्या तुम इसी कारण कह सकोगे कि दिन में आकाश में तारे नहीं होते! हे मानव, अज्ञान-अवस्था के कारण तुम्हें ईश्वर के दर्शन नहीं होते, इसलिए ऐसा न कहो कि ईश्वर है ही नहीं।

इस दुर्लभ मनुष्य-जन्म को पाकर भी जो ईश्वर की प्राप्ति के लिए प्रयास नहीं करता, उसका जन्म लेना ही व्यर्थ है।

जिसकी जैसी भावना होगी, उसे वैसी ही प्राप्ति होगी। ईश्वर मानो कल्पवृक्ष हैं। उनसे जो कोई, जो कुछ माँगता है, उसे वही प्राप्त होता है। गरीब का लड़का कड़ी मेहनत के साथ पढ़-लिखकर हाईकोर्ट का जज बन जाता है और मन ही मन सोचता है, "अब मैं मजे में हूँ; उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर आ पहुँचा हूँ। अब मुझे बहुत आनन्द है।" तब भगवान भी कहते हैं, "ठीक है, मजे में ही रहो।" परन्तु जब हाईकोर्ट का वह जज सेवानिवृत्त होकर पेन्शन लेते हुए अपने विगत जीवन की ओर देखता है, तो उसे लगता है कि उसने अपना सारा जीवन व्यर्थ ही गुजार दिया। तब वह कहता है, 'हाय, इस जीवन में मैंने कौन-सा उल्लेखनीय काम किया?" तब भगवान भी कहते हैं, "ठीक ही तो, तुमने किया ही क्या!"

संसार में मनुष्य दो तरह की प्रवृत्तियाँ लेकर जन्मता है – विद्या और अविद्या। विद्या मुक्तिपथ पर ले जानेवाली और अविद्या संसार-बन्धन में डालनेवाली प्रवृत्ति है। व्यक्ति के जन्म के समय ये दोनों प्रवृत्तियाँ मानो खाली तराजू के पलड़ों की तरह समतोल स्थिति में रहती हैं। परन्तु शीघ्र ही मानो मनरूपी तराजू के एक पलड़े में संसार के भोग-सुखों का आकर्षण तथा दूसरे में भगवान का आकर्षण स्थापित हो जाता है। यदि मन में संसार का आकर्षण अधिक हो तो अविद्या का पलड़ा भारी होकर झुक जाता है और मनुष्य संसार में डूब जाता है; परन्तु यदि मन में भगवान के प्रति अधिक आकृष्ट हो तो विद्या का पलड़ा भारी हो जाता है और मनुष्य भगवान की ओर खिंचता चला जाता है।

छोटा बच्चा अकेले बैठे बैठे खिलौनों से खेलता रहता है, उसके मन में कोई भय-चिन्ता नहीं होती। पर ज्योंही माँ आ जाती है, वह सारे खिलौने फेंक 'माँ' 'माँ' कहते हुए उसकी ओर दौड़ जाता है। तुम भी अभी धन-मान-यश के खिलौने लेकर निश्चिन्त होकर खेल रहे हो; पर यदि एक बार भी ईश्वर को देख सको, तो सब फेंककर उन्हीं की ओर दौड़ पड़ोगे।

पहले ईश्वर की प्राप्ति कर लो, फिर धन कमाना; इसके विपरीत पहले धन कमाने की कोशिश मत करो। यदि तुम भगवान की प्राप्ति कर लेने के बाद संसार में प्रवेश करो तो तुम्हारे मन की शान्ति कभी नष्ट नहीं होगी।

मुसाफिर को नये शहर में पहुँचकर पहले रात बिताने के लिए किसी सुरक्षित डेरे का बन्दोबस्त कर लेना चाहिए। डेरे में अपना सामान रखकर वह निश्चिन्त होकर शहर देखते हुए घूम सकता है। परन्तु यदि रहने का बन्दोबस्त न हो तो रात के समय अँधेरे में विश्राम के लिए जगह खोजने में उसे बड़ी तकलीफ उठानी पड़ती है। उसी प्रकार, इस संसाररूपी विदेश में आकर मनुष्य को पहले ईश्वररूपी चिर-विश्रामधाम प्राप्त कर लेना चाहिए, फिर वह निर्भय होकर अपने नित्य कर्तव्यों को करते हुए संसार में भ्रमण कर सकता है। किन्तु यदि ऐसा न हो तो जब मृत्यु की घोर अन्धकारपूर्ण भयंकर रात्रि आएगी तब उसे अत्यन्त क्लेश और दुःख भोगना पड़ेगा।

बड़े बड़े गोदामों में चूहों को पकड़ने के लिए दरवाजे के पास चूहादानी रखकर उसमें गुड़-मुरमुरे रख दिए जाते हैं। उसकी सोंधी सोंधी महक से आकृष्ट हो चूहे गोदाम में रखे हुए कीमती चावल का स्वाद लेने की बात भूल जाते हैं और गुड़-मुरमुरे खाने के चक्कर में चूहादानी में फँसकर मारे जाते हैं। जीव का भी ठीक यही हाल है। कोटि कोटि विषय-सुखों के घनीभूत स्वरूप ब्रह्मानन्द के द्वार पर स्थित होकर भी जीव उस आनन्द को पाने का प्रयास न कर संसार के क्षुद्र विषय-सुखों में लुब्ध हो माया के फन्दे में फँसकर मारा जाता है।

भक्ति – ईश्वर के प्रति भक्ति ही एकमात्र सार वस्तु है। उनके चरण-कमलों में भक्ति पाने के लिए साधना करनी पड़ती है, खूब व्याकुल हृदय से रोते हुए उन्हें पुकारना पड़ता है। विभिन्न वस्तुओं में बिखरे हुए मन को खींचकर पूरी तौर से उन्हीं में लगाना पड़ता है। वेद कहो, वेदान्त कहो, या कोई और शास्त्र – ईश्वर किसी में नहीं हैं। उनके लिए प्राणों के व्याकुल हुए बिना कुछ भी न होगा। व्याकुल होकर खूब भक्ति के साथ उनसे प्रार्थना तथा साधना करनी चाहिए। ईश्वर को पाना आसान नही है, उसके लिए खूब साधना चाहिए।"

समाज-सुधार तो तुम भगवान की प्राप्ति के बाद भी कर सकोगे। स्मरण रहे – भगवान को पाने के लिए प्राचीन काल के ऋषियों ने संसार को त्याग दिया था। ईश्वर की प्राप्ति ही सर्वाधिक आवश्यक वस्तु है। यदि तुम चाहो तो तुम्हें अन्य सभी वस्तुएँ मिल जाएँगी। पहले भगवान को पा लो, फिर भाषण, समाज-सुधार आदि की सोचना।

उस 'एक' ईश्वर को जानो; उसे जानने से तुम सभी कुछ जान जाओगे। 'एक' के बाद शून्य लगाते हुए सैकड़ों और हजारों की संख्या प्राप्त होती है, परन्तु 'एक' को मिटा डालने पर शून्यों का कोई मूल्य नहीं होता। 'एक' ही के कारण शून्यों का मूल्य है। पहले 'एक', बाद में 'बहु'। पहले ईश्वर, फिर जीव-जगत्। ❑